शंकर दयाल सिंह

सामाजिक और राजनीतिक धरातल पर खड़े एक ऐसे संवेदनशील साहित्यकार, जिनकी भाषा में साफगोई है तथा शैली में अद्‌भुत चुलबुलापन। साफ तौर से यह जाहिर होता है कि लेखकीय ईमानदारी का पालन शंकर दयाल सिंह की लेखनी का युगधर्म है; केवल बौधिक वात्याचक्र मात्र नहीं।

'कुछ बातें : कुछ लोग' आत्मिक और आसपास की अनुभूतियों का लेखा-जोखा मात्र न होकर ऐतिहासिक दस्तावेज भी है, जैसे सागर तल में सीपियों का संसार सिमटा होता है, वैसे ही 'कुछ बातें : कुछ लोग' के हर पन्ने में भूत काल का दर्द वर्तमान कालिक पटों पर भविष्यत् रेखांकन के समान है।

कुछ बातें : कुछ लोग

शंकरदयाल सिंह

अनुक्रम

कुछ शब्द

भूमिका लिखने की औपचारिकता का निर्वाह क्यों ? 'कुछ बातें : कुछ लोग' स्वयं मे एक भूमिका है।

ये रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओ मे आती रही हैं और इन्हे मैं मानता हूं कि एक समर्थ धरोहर है। साहित्य की चेतना के साथ ही इतिहास के लिए भी ये सार्थक उपादान हैं।

प्रदीप जी का अनुग्रहीत हूं, जिन्होने जबरन मेरे सिर पर चढ़कर इनका संग्रह तैयार करवाया, नहीं तो ये इधर-उधर बिखर जाते।

—शंकरदयाल सिंह

आसपास के अपने
परिवेश को
जिसने आँखों की
बरौनियों में
सपनों के साथ-साथ
अपना
अन्वेषण भी दिया है।

भूतपूर्व प्रधानमंत्री से कुछ आखिरी मुलाकातें

२३ मार्च, १९७७ को प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी भूतपूर्व प्रधानमंत्री हो गई और उस दिन से उनका जीवन-क्रम, व्यवहार और काम करने के तरीकों में एक दूसरा ही रंग उभरा और बहुत सारी घटनाएं उनके ही वृत्त में आज भी घूम रही हैं। प्रधानमंत्री पद से हटने के बाद कई बार मैं उनसे मिला और जो इन्दिरा गांधी प्रधानमंत्री के रूप में किसी महानता के कुहासे में ढकी हुई थीं, उनका वास्तविक रूप धीरे-धीरे हर किसी के सामने स्पष्ट होने लगा। हां, उन दिनों की मुलाकातों को मैं स्मरणीय मानता हूं, कारण उनमें इतिहास के कई महत्वपूर्ण राग-रंग छिपे हुए हैं और आगे आने वाली स्थितियों का ताना-बाना भी उनसे स्पष्ट होता है।

प्रधानमंत्री की गद्दी से हटने के बाद उन दिनों श्रीमती गांधी एक दयनीय स्थिति में पहुंच गई थी। मिलने वालों की भीड़ कम हो गई थी, अपनों ने मुंह मोड़ना शुरू कर दिया था, शासनकाल की ज्यादतियां जनता के सामने धीरे-धीरे आ रही थीं, उनके प्रति सहानुभूति का भाव घृणा में परिवर्तित हो रहा था। लेकिन स्वयं उनके अपने व्यक्तित्व में ये सारी बातें किस प्रकार कोलाहल मचा रही थीं, यह भी देखने-जानने और समझने की वस्तु है।

यह सही है कि आज वे पुन: नये निखार के साथ भारतीय राजनीति पर छाने की हर संभव कोशिश कर रही हैं तथा जनता पार्टी की असफलताओं का लाभ उठा रही हैं। एक बार फिर वह अखबारों की सुर्खियों में छा गई हैं, जहां कहीं जाती हैं, हजारों-लाखों की भीड़ आकृष्ट कर रही हैं, कमजोर हृदयों एवं भीड़ को ही छोर और व्यक्ति को ही भविष्य मानने वाले राजनीतिज्ञ उनके चंगुल में फंसने जा रहे हैं तथा कर्मठता, व्यावहारिकता, समय की सूझ और अवसर से फायदा उठाने की क्षमता के कारण इन्दिरा जी को वर्तमान समय में सफलता भी मिल रही है।

लेकिन कुछ दिनों पूर्व प्रधानमंत्री पद से हटने के बाद उनकी मनोदशा क्या थी और किस प्रकार का पश्चाताप उनके मानस को मथ रहा था, यह देखने योग्य

है। यहां मैं भूतपूर्व प्रधानमंत्री से हुई उन मुलाकातों को तिथियों के आधार पर रख रहा हूँ जिससे बहुत सारी बातें स्पष्ट रूप से सामने आ सकेंगी जो अब तक बहुत कम लोगों को ज्ञात है।

२२ मार्च, १९७७, दिल्ली

दो दिनो पहले सारे देश का चुनाव-फल आ गया है और जनता ने कांग्रेस को हरा कर भूत से बदला लिया, श्रीमती इन्दिरा गांधी को हराकर वर्तमान से बदला लिया और श्री संजय गाँधी को हराकर भविष्य से बदला लिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय जनता की नाराजगी का फैसला यह हुआ कि भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों से एक साथ छुटकारा और ऐसी ही विषम परिस्थिति के साये में स्वयं भी लोकसभा चुनावों में हारकर मैं भी आज दिल्ली पहुँचा हूँ।

स्वाभाविक था कि इन्दिरा जी से मिलता और मिलने पहुँचा—उनके १ नं० सफदरजंग स्थित मकान पर, जो प्रधानमंत्री का सरकारी निवास स्थान है। यह सही है कि इन्दिरा जी की व्यक्तिगत हार से हर किसी को आश्चर्य है तथा बहुतों को दु:ख है, उन्हें भी जो काँग्रेस की हार से खुश हैं।

सामने जाने पर मैं समझ ही नहीं सका कि क्या बातें करूँ। मेरी आँखें उनके काँतिहीन चेहरे पर टिक गईं, जहाँ मैं एक अपरिमित वेदना की अनगिनत तस्वीरें देखता हूँ। वे स्मित मुस्कुराहट का प्रयास करती हैं, कि तभी मैं कहता हूँ—हम लोग सभी हार गये थे तो कोई बात नहीं, लेकिन आपको जीतना चाहिए था। यदि आप जीत जातीं तो हमारा दु:ख दूर हो जाता।

बाद में, मैं स्वयं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि वे जीत जातीं, तो फिर हम सब क्यों हारते। भारतीय जनता का गुस्सा तो रायबरेली और अमेठी में केन्द्रित था और उसी आग में दूसरे भी झुलस गये।

वे मेरी ओर देखती हैं, लेकिन मौन। मैं फिर पूछता हूँ—अब आप कहाँ रहेंगी ?

—अभी तो सोचा नहीं है, कोई किराये का मकान दिखवा रही हूँ।—वह उत्तर देती हैं।

क्यों नहीं आप अपने 'फार्म' पर मेहरौली चली जाती हैं, वहाँ कुछ दिन शाँति से रह सकेंगी।— मैं कहता हूँ।

—वह बहुत दूर है। मिलने आने वालों को काफी तकलीफ होगी तथा वहाँ तो अभी कुछ बना भी नहीं है।— वे कहती हैं।

—दूर क्या है, मिलने वाले आप जहाँ कहीं भी होंगी वहाँ जाकर मिलेंगे। आखिर गाँधी जी जहाँ कहीं भी रहते थे, लोग उनसे वहीं जाकर मिलते थे।—मैं अकस्मात कह पड़ता हूँ।

—हाँ, देखिये क्या होता है। —कुछ अन्यमनस्क भाव से यह बोलती हैं।

उसके बाद मैं दूसरी बात छेड़ देता हूँ—आपको सभी हारे-जीते संसद सदस्यों में सम्पर्क बनाये रखना चाहिये। आखिर वे ही तो आपके सूत्र होंगे पूरे भारत में। और अच्छा हो कि एक दिन आप सबों को चाय पर बुलाकर बातें भी करें। इससे सबों को दिलासा होगा। —मान न मान मैं तेरा मेहमान के समान मैं अपनी बातें कहता हूँ। लेकिन यह बात उन्हें जंचती है। उसी समय वह निश्चय करती हैं कि दो-तीन दिनों बाद सबों को वह चाय पर बुलायेंगी और तीसरे या चौथे दिन बुलाती भी हैं।

मैं कमरे से बाहर निकलता हूँ—पवन मिलते हैं, फीकी हँसी, बुझा व्यक्तित्व, गिरा शरीर।

दो-चार दिनों पहले गर्व और गौरव तथा सत्ता के मद से झूलता हुआ १ न०, सफदरजंग, प्रधानमंत्री का निवास स्थान उजड़ा-सा दिखलाई देता है, वैसे ही जैसे रिछड़ा पड़ा हो और अन्दर की चहकने वाली चिड़ियाँ उड़ गई हों अथवा बसन्त में नीम के पत्ते झर गये हों केवल ठूँठ खड़ा हो।

१ अप्रैल, १९७७, दिल्ली

८-१० दिनों के अन्दर आज इन्दिरा जी से चौथी बार मिला। बहुत सारी बातें संगठन के सम्बन्ध में उन्होंने कीं। वे किसी प्रकार कांग्रेस अध्यक्ष श्री देवकान्त बरुआ को नहीं चाहती हैं कि वे एक दिन के लिए भी अध्यक्ष पद पर बने रहें।

कहने लगीं कि बरुआ जी सी० एफ० डी० वालों से भी बातें कर रहे हैं। मैंने पूछा कि इन्हें हटा कर किसे कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया जाये, तो इस प्रश्न को वे टाल गईं—इसे आप लोग ही सोचें कि मौजूदा स्थिति में कौन कारगर अध्यक्ष हो सकता है।

—कुछ लोग चौहान साहब का नाम लेते हैं कि कुछ दिनों तक उन्हें ही बना दिया जाय।—मैंने कहा।

—दोनों पदों पर वे ही रहेंगे तो कैसा लगेगा ?—उन्होंने कुछ होंठ बिचका कर कहा। मैं उनका भाव समझ गया।

कुछ देर तक चुप्पी रही, फिर वे बोलीं—कुछ लोग तो कहते हैं कि मुझे हो जाना चाहिए, लेकिन यह ठीक नहीं होगा।

मैं उनकी बातें समझ कर भी न समझ सका और झट से बोल पड़ा—मेरी समझ में अभी आपको छः महीने-साल भर कुछ नहीं होना चाहिए और मौन रहना चाहिए। उसके बाद भारत की जनता स्वयं आपको बुलायेगी।

एक बार फिर इन्दिरा जी से मैंने पूछा—मकान का क्या हुआ ? वहाँ यहाँ से 'सिफ्ट' करेंगी ?

अभी तक तो कुछ नहीं हुआ है। शायद 'डिफेन्स कालोनी' में लोग कोई मकान देख रहे हैं।—वह बोलीं।

उसी समय वह कहती हुई उठीं—आप बैठिये, मैं अभी आई बाहर से। बंसीलाल जी बैठे हैं, जरा मैं उन्हें निबटा आती हूँ। लोग यों ही उन्हें यहाँ देख कर तरह-तरह की बातें करते हैं।

और वे सच में तीन-चार मिनटों के अन्दर ही उन्हें 'निबटाकर' पुनः अन्दर आ गईं।

इधर-उधर की कुछ बातें कर मैं बाहर आया तो सामने ही धवन मिल गये। "हैलो, हैलो···" हुआ। फिर मैंने ही पूछा—भई, मकान का क्या हुआ?

—मैडम ने प्रधानमंत्री को लिखा है आसपास ही किसी सरकारी मकान को 'मार्केट रेट' पर देने के लिए। ज्यों ही मिल जायेगा, यहाँ से चल देंगे।

मुझे धवन की बातों से ठेस लगी। इन्दिरा जी ने मुझसे कहा कि 'डिफेन्स कालोनी' में दिखवा रही हूँ और यहाँ प्रधानमंत्री को उन्होंने पत्र भी लिख दिया। भला इसे छिपाने या मुझसे झूठ कहने की क्या आवश्यकता थी।

—धवन साहब, मेरी समझ में सरकारी-मकान लेना या इस सरकार का कोई 'अल्लीगेशन' लेना 'मैडम' के लिए ठीक नहीं है।—मैंने कहा और भारी कदमों से बाहर निकल गया।

११ अप्रैल, १९७७, दिल्ली

कल कांग्रेस कार्य समिति की बैठक है, मैं उसमें विशेष आमंत्रित की हैसियत से भाग लेने आज दिल्ली आया और इन्दिरा जी से मिला। छूटते ही उन्होंने कहा—बरुआ जी और चन्द्रजीत कांग्रेस को तोड़ने पर लगे हैं।

मैंने कहा—यह कैसे होगा। कल कार्यसमिति में खुलकर बातें होनी चाहिएं।

इन्दिरा जी बोलीं—मैं तो भाग नहीं लूंगी।

—क्यों? मैंने जानना चाहा।

—मुझे लोग बैठा कर जलील करेंगे—यह मुझसे बर्दाश्त नहीं होगा।—कह कर वह रो पड़ीं और इधर मैं भी अपने को रोक नहीं सका।

लेकिन तुरन्त अपने को संभालता हुआ बोला—इन्दिरा जी, आप एक बहादुर औरत हैं, कितना उत्थान-पतन आपने देखा है, फिर इस प्रकार संतुलन खो देंगी तो हमारे समान छोटे कार्यकर्ताओं का हाल क्या होगा? कल की बैठक में आप भाग लें, हम सब देखेंगे कि आपको कौन क्या कहता है?—युवकोचित जोश के साथ मैंने कहा।

कह नहीं सकता कि इन्दिरा जी की आँखों के आँसू भावना के थे, स्वाभिमान के थे, समय-शिल्प के थे या राजनीति के।

उसके बाद मैंने विषय बदल दिया—सुना कि जगजीवन बाबू आपसे मिलने आये थे ?

—हाँ, वे 'कर्टसीकाल' में आये थे, लेकिन कहते थे कि कांग्रेस का दरवाजा हम लोगों के लिए सदा खुला रहना चाहिए और पार्टी को मजबूत बनना चाहिए। यह भी कहते थे कि कांग्रेस-अध्यक्ष श्री मोहन लाल सुखाडिया को बना दीजिये।

कल की बैठक की चिन्ता ओढ़े मैं इन्दिरा जी से विदा लेकर बाहर आया और चौहान जी, डी० पी० मिश्रा जी और श्री चन्द्रजीत यादव से मिला।

१ मई, १९७७, दिल्ली

कानन (मेरी पत्नी) की इच्छा थी कि दिल्ली छोड़ने के पहले इन्दिरा जी से व्यक्तिगत रूप में उनकी मुलाकात हो, अतः आज पत्नी और अपनी बच्ची रश्मि के साथ इन्दिरा जी से मिलने पहुँचा। १ न०, सफदरजंग वाले मकान में ही अभी वह हैं। वहीं ड्राइंग रूम में बैठाया गया, जहाँ पहले से ही शांति प्रसाद जैन जी, ज्ञानी जैल सिंह जी तथा दो-तीन और व्यक्ति बैठे थे, जिन्हें मैं नहीं पहचानता था।

इन्दिरा जी ने अपने मिलने का क्रम ऐसा रखा है कि स्वयं आकर वह इस ड्राइंग रूम से दूसरे ड्राइंग रूम में लोगों को बुलाकर ले जाती हैं। वे एक-दो लोगों के बाद हम लोगों को ले गईं, मैंने उन्हें बताया कि हम लोग एक हफ्ते में दिल्ली छोड़ रहे हैं, अत. अपनी पत्नी और बच्ची की इच्छापूर्ति के लिए उनसे मिलाने आया हूँ। वह प्रसन्नतापूर्वक मिलीं और बीच में ही पुन उठकर यह कहती हुई बाहर निकलीं कि शांति प्रसाद जी बहुत देर से बैठे हैं, मैं जरा उनसे मिलकर अभी आती हूँ।

आने के बाद मैंने स्वयं उन्हें बीच में तथा अपनी पत्नी और बच्ची को अगल-बगल खड़ा कराकर तस्वीर ली—प्रसन्नचित्त मुद्रा में।

राजनीतिक वार्ता के लिए, जिसमें मुख्य रूप से यह कि कांग्रेस-अध्यक्ष कौन हो, मैंने स्वयं कहा कि एक-दो दिन में आऊँगा तो बातें करूँगा।

३ मई, १९७७, दिल्ली

भारी रस्साकसी है कि कौन कांग्रेस-अध्यक्ष हो। इन्दिरा जी की ओर से भूतपूर्व गृह मंत्री श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी का नाम सामने आ गया है और इसी ओर से सिद्धार्थ शंकर राय का। २७ वर्षों बाद लगता है कि इस बार चुनाव होकर रहेगा।

मैं, श्री प्रभु नारायण सिंह एवं श्री प्रेमचन्द वर्मा के साथ इसी सम्बन्ध में बातें करने इन्दिरा जी के पास गया। कुछ संयोग ऐसा हुआ कि जिस समय हम लोग उनके ड्राइंग रूम में बैठकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, उस समय वह बगल

चार हो गये।

मैं उस दिन बहुत उद्विग्न होकर उनके घर से निकला और गया श्री देवकान्त बरुआ के यहाँ। मैंने उनसे यह बात बताई तो बरुआ जी बोले—जानते है ब्रह्मानन्द जी को इन्दिरा जी क्यों कांग्रेस-अध्यक्ष बनाना चाहती हैं? केवल इसलिए कि यह इतने कमजोर होंगे कि जिस दिन वे चाहेंगी इन्हें हटा सकेंगी।

श्री बरुआ की बातों में तथ्य था, जो बाद में स्पष्ट हो गया।

२८ जून, १९७७, दिल्ली

पहली बार १२ नं०, विलिंग्डन क्रिसेण्ट में इन्दिरा जी से मिलने गया। इस मकान में पहले श्री यूनुस रहते थे, इन्दिरा जी के बहुत ही विश्वासी और नजदीकी तथा संजय गांधी की शादी भी इसी मकान में हुई थी। तीन-मूर्ति से सटा हुआ और चाणक्यपुरी तथा साउथ एवेन्यू के बीच में स्थित यह मकान सामरिक और राजनीतिक दृष्टि से बहुत केन्द्र बिन्दु का काम करेगा।

प्रधानमंत्री के निवास स्थान १, सफदरजंग के मुकाबले यह बहुत छोटा मकान, बाहर गिरता-पड़ता एक शामियाना, बरामदे पर मामूली ढंग की ५-७ कुर्सियाँ, पुराने फर्नीचरों वाला सज्जाहीन ड्राइंग रूम, बाहर-भीतर ५-७ सुरक्षा कर्मचारी और भारत दर्शन के लिए आई दर्शनार्थियों की एक टोली।

मैंने विधान सभाओं के चुनावों के सम्बन्ध में बातें छेड़ी, तो वह बोली—मैं तो कहीं गई ही नहीं और अपने लोगों के पास साधनों की भी बेहद कमी थी।

मैंने कहा—आपने देखा कि नहीं कि एक ओर जनता पार्टी के अध्यक्ष श्री चन्द्रशेखर तथा उनके दूसरे नेता हर जगह धुआंधार दौरा कर रहे थे, हर विधान सभा क्षेत्र में मीटिंग पर मीटिंग हो रही थी, लेकिन दूसरी ओर हमारे अध्यक्ष किसी प्रान्त में गये ही नहीं।

इन्दिरा जी कुछ मुंह बिचका कर रह गईं। उसका उन्होंने कुछ जवाब नहीं दिया, लेकिन उनकी आँखों ने स्पष्ट रूप से कहा—मैं तो जानती ही थी कि ये सब कुछ नहीं हैं, 'फिसड्डी' हैं।

मैंने बातों को मोड़ दिया—इधर इमरजेन्सी के सम्बन्ध में तथा आपके सम्बन्ध में अनेकों पुस्तकें आ रही हैं जिनमें कितनी सारी नई और चौंकाने वाली बातें हैं। क्या आप उन्हें पढ़ती हैं या देखती हैं?

इस पर वह सिहर गईं—राम, राम, पता नहीं इतनी सारी मनगढन्त बातें लोग कहाँ से लिखते हैं? और पुस्तकें ही क्यों, अखबारों में भी मेरे बारे में रोज लिखा जा रहा है तथा पैम्फलेट्स भी निकल रहे हैं।

—लेकिन मेरी समझ में आपको इन्हें 'कन्ट्रेडिक्ट्स' करना चाहिए, यदि वे निराधार हैं। जैसे अभी-अभी एक पुस्तक में यह बात आई है कि आपकी ओर से

न्यायमूर्ति सिन्हा को 'घूस' देने की कोशिश की गई थी।—मैंने कहा।

इन्दिरा जी बोलीं—मेरे वकील फ्रेंक एन्थोनी का कहना है कि मैं अभी इन मसलों पर कुछ नहीं बोलूं, कारण कमीशन में पता नहीं इनका अर्थ क्या लगा लिया जाये, इसलिए मैं चुप हूँ।

—फिर भी आपके किसी विश्वस्त व्यक्ति द्वारा इनका खण्डन होना चाहिए, नहीं तो जनता पर इसका असर अच्छा नहीं होगा।

मैंने फिर उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो बोलीं—ठीक ही है।

लेकिन मैंने पाया कि वह ठीक नहीं हैं। १ नं०, सफदरजंग की प्रधानमंत्री एवं विलिंगडन क्रिसेण्ट की श्रीमती इन्दिरा गाँधी में आज वही फर्क देखने में आया, जो १ नं०, सफदरजंग में तथा १२ नं०, विलिंग्डन क्रिसेण्ट में अन्तर है।

६ जुलाई, १९७७, दिल्ली

आज पटना से दिल्ली आया और इन्दिरा जी, चौहान जी, ब्रह्मानन्द रेड्डी, के० सी० पन्त आदि कई काँग्रेस के वरिष्ठ नेताओं से मिला। इन्दिरा जी पहले तो बहुत 'रिजर्व' रहीं, अतिशय खामोश—जैसा अक्सर वह दूसरों की बातों को अधिक सुनती हैं, अपनी बात कम सुनाती हैं। लेकिन आज का मौन उससे भी ज्यादा था। अन्त में राज खुल ही गया, बोलीं— मैं चाहती थी कि राष्ट्रपति के लिए लड़ाई हो। हमारे उम्मीदवार श्री हिदायतुल्ला या ऐसे ही कोई वरिष्ठ हों —लेकिन चौहान जी ने और ब्रह्मानन्द जी ने नीलम संजीवा रेड्डी के नाम पर संधि कर ली। इस तरह से पार्टी कैसे चलेगी।

मेरे सामने सारी बातें स्पष्ट थीं। राष्ट्रपति पद पर श्री नीलम संजीवा रेड्डी का मनोनयन और काँग्रेस का समर्थन एक विचित्र ऐतिहासिक घटना थी। आज से आठ वर्षों पूर्व कांग्रेस का बंगलौर में विभाजन हुआ था, इसी नाम के कारण वही नाम आज सर्वसम्मति से इतिहास के काल-बिन्दु के समान घूम-फिर कर इतिहास-सत्य बन गया था। इन्दिरा जी के जीवन की यह सबसे बड़ी हार है और इतिहास के घटनाचक्रों की सबसे बड़ी विजय।

मैं स्तब्ध था। पहले इन्दिरा जी मौन थीं, तो मैं खुला था, अब जब वह खुलीं तो मैं मौन हो गया। मैं अच्छी तरह बिना कहे भी सारी बातें समझने की क्षमता रखता था। मेरी आँखों के सामने भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्तब्धता, भयानक प्रतिहिंसा, अन्दर ही अन्दर क्रोध से ज्वालामुखी के समान उबलती श्रीमती इन्दिरा गांधी खड़ी थीं, जिनकी आँखों में अनाड़ी किस्म से झाँककर भी मैं यह देख गया कि उनके अन्दर सुलगती यह ज्वाला अब आग का रूप ग्रहण कर लेगी। पता नहीं इसमें यह खुद जलेंगी या दूसरों को जलाकर भस्म करेंगी।

आगे कांग्रेस-विभाजन की भूमिका, अपने नाम से संस्था बनाने का उपक्रम

और श्री चौहान एव श्री रेड्डी से बदला लेने की भावना का सूत्र मेरी समझ में उसी दिन से प्रारम्भ हो गया था।

मैं उस दिन शाम को श्री यशवन्त राव चौहान से मिला, तो मैंने शिकायत की कि इन्दिरा जी काफी नाराज हैं और उनका कहना है कि राष्ट्रपति पद के लिए 'कन्टेस्ट' होना चाहिए था तथा श्री हिदायतुल्ला को उम्मीदवार बनाना चाहिए था।

एक मजे हुए राजनीतिज्ञ के समान श्री चौहान ने मेरी ओर देखकर हंस दिया—पहली दोनों बातें सही हैं कि वे नाराज हैं तथा वह 'कन्टेस्ट' चाहती थीं, लेकिन तीसरी बात उन्होंने बिल्कुल गलत कही—वह श्री हिदायतुल्ला को उम्मीदवार बनाना नहीं चाहती थीं, खुद राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार होना चाहती थीं।

मुझे काटो तो खून नहीं। इन्दिरा जी क्या कहती हैं, क्या चाहती हैं और क्या करती हैं—शायद भगवान को भी समझ पाना कठिन होगा—मैं तो कुछ हूँ ही नहीं। •

पं० द्वारका प्रसाद मिश्र से : आत्मीय बातचीत

'यह है कचनार और यह रहा अमलतास, इधर देखिये मौलश्री कवियों-साहित्यकारों का प्रिय नाम, यह सामने सीता-अशोक है और वह जो सामने आप देख रहे हैं चम्पा की अलग 'वैराइटी' है, इस फूल का कोई भारतीय नाम मुझे नहीं मिला तो मैंने इसका नामकरण किया है 'पिचकारी।' कारण—इसे दवाइये तो पच से रस बाहर निकलेगा, लेकिन दिखाऊँ तो क्या दिखाऊँ इन ठेठ गुलाबों को, अस्सी किस्म के गुलाब हैं यहाँ। —सुबह की सोनिया किरण मस्तक पर थाप देने की तैयारी कर रहा है, वासंती गंध लिए हौले-हौले पवन गुँदगुदाने की चेष्टा में है, सामने हर ओर हरे-भरे पौधे, लता-गुल्म, झाड़ियाँ, पेड़ जीवनन्तता का उद्घोष कर रहे हैं और भारत के इस मध्य विन्दु जबलपुर में 'उत्तरायण' के प्राँगण में मैं 'कृष्णायन' के गायक-साहित्यकार और भारतीय राजनीति के चाणक्य पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र के साथ टहल रहा हूँ और वे मुझे रस ले-लेकर अपने एक-एक विरबे को दिखला रहे हैं और उनके हर वाक्य से मुझे कुछ ऐसा लग रहा है मानों वे हर डाल को और उस डाल की हर पत्ती को पुचकार रहे हों, सहला रहे हों, सुला रहे हों और जगा रहे हों।

छिहत्तर वर्ष पूरे हो जाने पर भी गठीला शरीर, आँखों की ज्योति में कुछ धुंध आ जाने पर भी दूरदृष्टि से पूरित दिव्यता; वाक्य-विन्यास की हर कड़ी में अध्ययन और विश्लेषण का मिला-जुला अनुभाग, शुभ्र खादी का कुरता-धोती-टोपी और शरद की सुबह से बचाव के लिए भूरे रंग का पूरे बाँह का स्वेटर, पाँवों में चप्पल और संत कबीर के समान विखरी खिचड़ी दाढ़ी। आने-जाने वालों के लिए 'दादा', बातचीत में नेताओं के लिए मिश्र जी और मेरे लिए 'पंडित जी'— संक्षेप में यही हैं पं० द्वारका प्रसाद मिश्र।]

अनजान आदमी पास आने में झिझकता है, पहचान का आदमी पास जाने से डरता है, लेकिन जो पास चला जाता है, वह कभी दूर नहीं होता। मैं अपने को उन सौभाग्यशालियों में मानता हूँ जो अयाचित रूप से मिश्र जी के पास पहुँचा, एक-दो मुलाकातों में ही जिसे उनका अप्रतिम स्नेह मिला, ऐसा विश्वासपात्र बन

गया कि उन्होंने भारतीय राजनीति की और आज-कल के चरित्रों की ऐसी-ऐसी बातें मुझे लिखी और कहीं जो इतिहास के लिए मेरे पास थाती है। और इसीलिए जब अनेक राजनीतिक गुत्थियाँ सामने आती है। और मुझे जब बहुत सारी बातें समझने की भयानक पीडा सताती है, तो मिश्र जी को याद करता हूँ और या तो उन्हें लिखता हूँ या सीधा उनके पास पहुँचता हूँ। और इस बार भी देश एवं कांग्रेस की राजनीति मे जब एक भयानक ज्वार आया है, तो मैं सीधा मिश्र जी के पास आया हूँ और एक दिन तथा एक रात उनके पास रहकर बहुत सारी बातें करता हूँ—साधारण, असाधारण, राजनीतिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक—लेकिन सबके साथ ही अनौपचारिक।

'मैं जब अपने एक पत्रकार-मित्र को यह कहते लगता हूँ कि मिश्र जी एव मेरे बीच आयु के हिसाब से एक पीढी का अंतर है, तो बीच मे ही वे मेरी बात काट देते हैं— मैं जब किसी को विश्वास देता हूँ और नीति की बातें करता हूँ तो उम्र को बीच मे देखता भी नहीं। और आप तो जानते ही हैं कि जितने भी युवातुर्क थे सबों के साथ मेरा कितना अपनापन था और आज भी है।'

मेरे मन में रह-रहकर मिश्र जी के सबन्ध मे एक बात उठती रही है, जिसे मैं उनके सामने रखता हूँ—'पंडित जी, आपके राजनीति में जाने की वजह से साहित्य का बहुत बडा नुकसान हुआ है और आपके साहित्य मे रहने की वजह से राजनीति की भी कम हानि नही हुई?'

वे हँसते हैं—यह तो कहिए कि गांधी-युग मे ही मैं राजनीति मे कूद पडा, जेल गया—नही तो मेरा क्षेत्र तो साहित्य का ही था।

'पंडित जी, आपने अपने मकान का नाम 'उत्तरायण' क्यो रखा?—मैं इसलिए यह जानना चाहता हूँ क्योंकि मुझे यह लगता रहा है कि 'कृष्णायन' के कवि ने भीष्म का 'उत्तरायण' तो ग्रहण नही किया है?' लेकिन वे मेरी आशका निर्मूल कर देते हैं— 'चूँकि यह मकान उत्तर की ओर है, इसीलिए इसका नाम 'उत्तरायण' रखा।

बाहर का टहलना समाप्त कर हम अब ऊपर आ गये है मिश्र जी के अध्ययन-कक्ष में। मैं मुआयना शुरू करता हूँ—बड़े से इस हालनुमा कमरे का। उत्तर की ओर खिड़कियों के साथ लगी है दीवान, चक-चक सफेद चादर और चार-पाँच मसनद, फैलाव इस प्रकार कि एक साथ २०-२५ व्यक्ति बैठ जायें, चारो ओर लकडी की अलमारियाँ, जिनमे भरी हैं, पुस्तकें, बीच में सोफा-टेबुल, दीवान के साथ ही एक टेबुल जिस पर रखी है पत्र-पत्रिकाएँ और ताजी पुस्तकें, लिखने-पढने के जरूरी सामान, मिश्रजी जहाँ बैठते है मसनद के सहारे वहाँ डनलप की एक गद्दा भी लगा है, सोफे के ऊपर दीवारो पर ऐतिहासिक चित्र, अच्छे आकारनुमा नेता जी सुभाष चन्द्र बोस के साथ मिश्र जी, जवाहर लाल नेहरू

पं० द्वारका प्रसाद मिश्र से : आत्मीय बातचीत

'यह है कचनार और यह रहा अमलतास, इधर देखिये मौलश्री कवियों-साहित्यकारों का प्रिय नाम, यह सामने सीता-अशोक है और वह जो सामने आप देख रहे हैं चम्पा की अलग 'वैराइटी' है, इस फूल का कोई भारतीय नाम मुझे नहीं मिला तो मैंने इसका नामकरण किया है 'पिचकारी।' कारण—इसे दबाइये तो पच से रस बाहर निकलेगा, लेकिन दिखाऊँ तो क्या दिखाऊँ इन ठेठ गुलाबों को, अस्सी किस्म के गुलाब हैं यहाँ। —सुबह की सोनिया किरण मस्तक पर थाप देने की तैयारी कर रहा है, वासंती गंध लिए हौले-हौले पवन गुदगुदाने की चेष्टा में है, सामने हर ओर हरे-भरे पौधे, लता-गुल्म, झाड़ियाँ, पेड़ जीवनन्तता का उद्घोष कर रहे हैं और भारत के इस मध्य बिन्दु जबलपुर में 'उत्तरायण' के प्राँगण में मैं 'कृष्णायन' के गायक-साहित्यकार और भारतीय राजनीति के चाणक्य पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र के साथ टहल रहा हूँ और वे मुझे रस ले-लेकर अपने एक-एक बिरवे को दिखला रहे हैं और उनके हर वाक्य से मुझे कुछ ऐसा लग रहा है मानों वे हर डाल को और उस डाल की हर पत्ती को पुचकार रहे हों, सहला रहे हों, सुला रहे हों और जगा रहे हों।

छिहत्तर वर्ष पूरे हो जाने पर भी गठीला शरीर, आँखों की ज्योति में कुछ धुंध आ जाने पर भी दूरदृष्टि से पूरित दिव्यता; वाक्य-विन्यास की हर कड़ी में अध्ययन और विश्लेषण का मिला-जुला अनुभाग, शुभ्र खादी का कुरता-धोती-टोपी और शरद की सुबह से बचाव के लिए भूरे रंग का पूरे बाँह का स्वेटर, पाँवों में चप्पल और संत कबीर के समान बिखरी खिचड़ी दाढ़ी। आने-जाने वालों के लिए 'दादा', बातचीत में नेताओं के लिए मिश्र जी और मेरे लिए 'पंडित जी'—संक्षेप में यही हैं पं० द्वारका प्रसाद मिश्र।

अनजान आदमी पास आने में झिझकता है, पहचान का आदमी पास जाने से डरता है, लेकिन जो पास चला जाता है, वह कभी दूर नहीं होता। मैं अपने को उन सौभाग्यशालियों में मानता हूँ जो अयाचित रूप से मिश्र जी के पास पहुँचा, एक-दो मुलाकातों में ही जिसे उनका अप्रतिम स्नेह मिला, ऐसा विश्वासपात्र बन

गया कि उन्होंने भारतीय राजनीति की और आज-कल के चरित्रों की ऐसी-ऐसी बातें मुझे लिखी और कहीं जो इतिहास के लिए मेरे पास थाती हैं। और इसीलिए जब अनेक राजनीतिक गुत्थियाँ सामने आती हैं। और मुझे जब बहुत सारी बातें समझने की भयानक पीड़ा सताती है, तो मिश्र जी को याद करता हूँ और या तो उन्हें लिखता हूँ या सीधा उनके पास पहुँचता हूँ। और इस बार भी देश एवं कांग्रेस की राजनीति में जब एक भयानक ज्वार आया है, तो मैं सीधा मिश्र जी के पास आया हूँ और एक दिन तथा एक रात उनके पास रहकर बहुत सारी बातें करता हूँ—साधारण, असाधारण, राजनीतिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक—लेकिन सबके साथ ही अनौपचारिक।

'मैं जब अपने एक पत्रकार-मित्र को यह कहने लगता हूँ कि मिश्र जी एवं मेरे बीच आयु के हिसाब से एक पीढ़ी का अन्तर है, तो बीच में ही वे मेरी बात काट देते हैं— मैं जब किसी को विश्वास देता हूँ और नीति की बातें करता हूँ तो उम्र को बीच में देखता भी नहीं। और आप तो जानते ही हैं कि जितने भी युवातुर्क थे सबों के साथ मेरा कितना अपनापन था और आज भी है।'

मेरे मन में रह-रहकर मिश्र जी के सबन्ध में एक बात उठती रही है, जिसे मैं उनके सामने रखता हूँ—'पंडित जी, आपके राजनीति में जाने की वजह से साहित्य का बहुत बड़ा नुकसान हुआ है और आपके साहित्य में रहने की वजह से राजनीति की भी कम हानि नहीं हुई?'

वे हँसते हैं—यह तो कहिए कि गांधी-युग में ही मैं राजनीति में कूद पड़ा, जेल गया—नहीं तो मेरा क्षेत्र तो साहित्य का ही था।

'पंडित जी, आपने अपने मकान का नाम 'उत्तरायण' क्यों रखा?—मैं इसलिए यह जानना चाहता हूँ क्योंकि मुझे यह लगता रहा है कि 'कृष्णायन' के कवि ने भीष्म का 'उत्तरायण' तो ग्रहण नहीं किया है?' लेकिन वे मेरी आशंका निर्मूल कर देते हैं— 'चूँकि यह मकान उत्तर की ओर है, इसीलिए इसका नाम 'उत्तरायण' रखा।

बाहर का टहलना समाप्त कर हम अब ऊपर आ गये हैं मिश्र जी के अध्ययन-कक्ष में। मैं मुआयना शुरू करता हूँ—बड़े से इस हालनुमा कमरे का। उत्तर की ओर खिड़कियों के साथ लगी है दीवान, चक-चक सफेद चादर और चार-पाँच मसनद, फैलाव इस प्रकार कि एक साथ २०-२५ व्यक्ति बैठ जायें, चारों ओर लकड़ी की अलमारियाँ, जिनमें भरी हैं, पुस्तकें, बीच में सोफा-टेबुल, दीवान के साथ ही एक टेबुल जिस पर रखी है पत्र-पत्रिकाएँ और ताजी पुस्तकें, लिखने-पढ़ने के जरूरी सामान, मिश्रजी जहाँ बैठते हैं मसनद के सहारे वहाँ डनलप की एक गद्दा भी लगा है, सोफे के ऊपर दीवारों पर ऐतिहासिक चित्र, अच्छे आकारनुमा नेता जी सुभाष चन्द्र बोस के साथ मिश्र जी, जवाहर लाल नेहरू

के साथ मिश्र जी, रविशंकर शुक्ल के साथ मिश्र जी, भगवन्तराव मंडलोई से शपथ-ग्रहण कराते मिश्र जी, जनरल चौधरी के साथ मिश्र जी और भीत की अलमारी से एक चित्र झाँक जाता है —मिश्र जी और श्रीमती इन्दिरा गांधी गूढ़ विचार-विमर्श में मग्न। इसी कमरे से लगा मिश्र जी का शयनकक्ष है, भोजनकक्ष है, स्नानागार और शौचालय है। 'कृष्णायन' का यह ऊपरी कक्ष मानो मानो में एक ऐसे कर्मयोगी या साधना में लीन मनीषी का हृदय-कक्ष है, जिसकी तुलना हम योगी अरविन्द के पांडिचेरी आश्रम से कर सकते हैं। अन्तर है तो मात्र इतना ही कि योगी अरविन्द वर्ष में एक बार अपने कक्ष से बाहर दर्शन देते थे और यहाँ भारत के हर कोने से दर्शनार्थी कभी भी आ सकते हैं, मिल सकते हैं, अपनी गुत्थियाँ सुलझा सकते हैं।

हम दीवान पर बैठ गए हैं और नौकर हमारे सामने चाय लाकर रख जाता है और पंडित जी स्वयं किताबों के इस संसार से अपनी तीन पुस्तकें निकालकर मेरे सामने रख दी हैं—'अनुचिन्ता'; 'मानस के राम और गीता' और प्राचीन भारतीय साहित्य जो उनका आद्य विषय रहा है उसकी एक पुस्तक अंग्रेजी में। और चौथी पुस्तक 'कृष्णायन' उनके अपने हाथ में है। वे इसे खोलकर मुझे सुना रहे हैं कुरुक्षेत्र का वह प्रसंग जब भीष्म के सेनापतित्व का आठवाँ दिन है और इस बीच कोई कौरव मारे गये, लेकिन एक भी पांडव क्षत नहीं हुआ। इस पर कर्ण ने दुर्योधन को उकसाया और क्रुद्ध-सा दुर्योधन भीष्म से यह कहने आया है और नौवें दिन भयानक युद्ध होता है—भीष्म और अर्जुन में। सारे संवाद जीवित-जागृत हैं और 'दादा' मुझे व्याख्या के साथ-साथ सुना रहे हैं और मुझे ऐसा लग रहा है मानो मेरे सामने 'कृष्णायन' के रचयिता पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र नहीं बैठे हैं, बल्कि मैं 'रामायण' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास के पास बैठा हूँ।

साहित्य और राजनीति का ऐसा मणि-कांचन योग विरले लोगों में ही देखने में आता है। चर्चिल और पं० जवाहरलाल नेहरू ऐसे ही व्यक्तित्व थे, लेकिन मिश्र जी का व्यक्तित्व साहित्य या राजनीति में उनसे पृथक गूढ़ता रखता है। सतत किसी शोधकर्ता के समान जानने और मनन करने की जिज्ञासा और दृष्टि।

इसीलिए मुझे इस बेबाक सत्य की अनुभूति होती है कि पं० द्वारका प्रसाद मिश्र एक ओर साहित्यकार के रूप में जहाँ गोस्वामी तुलसीदास की परम्परा के जीवित-गायक हैं, वहीं दूसरी ओर उनकी राजनीतिक चाणक्य दृष्टि सरदार पटेल की दृढ़ता का द्योतक है।

और इस संबन्ध में स्वयं पं० जी कहते हैं कि तुलसीदास और सूरदास के साहित्य ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया और राजनीति में गाँधी जी के बाद सरदार पटेल और प० रविशंकर शुक्ल ने। हालाँकि मिश्रजी का यह भी कहना है

कि सूर का साहित्य तुलसी के साहित्य से उत्कृष्ट है।

बातों का सिलसिला ऐसा है जो टूटता ही नहीं, लेकिन मैं उन्हें आज के प्रतिपाद्य विषय पर ले आता हूं—पंडित जी, आखिर क्या होगा इस देश का और कांग्रेस का ?

—होगा क्या, देश तो बच जायेगा, लेकिन कांग्रेस पर सच में भयानक संकट है। इन्दिरा गांधी कांग्रेस को तोड़ना चाहती हैं और १९६९ की पुनरावृत्ति करना चाहती हैं। किसी भी अनैतिकता की हद तक वह जा सकती हैं। और झूठ तो इस प्रकार बोलती हैं कि राम···राम···

—वे थोड़ी देर के लिए रुकते है, फिर कहते हैं—यदि उन पर या और लोगों पर मुकदमा चलता है तो हर्ज ही क्या है। यदि दोषमुक्त पाई जाती हैं तो जनता और भी स्वागत करेगी तथा कांग्रेस की साख बढ़ेगी। मेरी समझ में इसके खिलाफ 'प्रोटेस्ट' की गुंजाइश या नारेबाजी की जरूरत कहाँ है। जो भी काम हों, नैतिक आधार पर होने चाहिए।

वे उसांस लेते हुए आगे कहते हैं—पिछली और अन्तिम बार मैं उनसे २३ या २४ सितम्बर को मिला और मैंने उनसे साफ शब्दों में कहा कि अभी कुछ दिनों तक आपको शांत और स्थिर बैठने की जरूरत है। साथ ही जिसे 'कोकम' कहते हैं, जिसमे बंसीलाल, विद्याचरण, संजय, धवन आदि हैं उनसे आपको अलग होना होगा और यह जो धीरेन्द्र ब्रह्मचारी नामका व्यक्ति है उसे भी अलग करना होगा। तभी जनता का विश्वास आप प्राप्त कर सकती हैं।

मैं यह कह ही रहा था कि अन्दर का दरवाजा खुला और आगे-आगे धीरेन्द्र ब्रह्मचारी उनके पीछे संजय गांधी और उनके पीछे एक कुत्ता तीनों ने एक साथ कमरे में प्रवेश किया। हमारी बातें कुछ देर के लिए रुक गयीं। उनके बाहर जाने के बाद इन्दिरा जी ने स्वयं उठकर दरवाजा बन्द किया। इससे लगता था कि वे मुझसे एकांत में कुछ बातें करना चाहती थीं, लेकिन मेरी उनकी ४५ मिनटों की बातचीत में तीन बार धीरेन्द्र ब्रह्मचारी, संजय गांधी और साथ में एक कुत्ता उस कमरे में आया जिसका कोई औचित्य नहीं था।

मिश्र जी कुछ देर के लिए रुके, उन्होंने पास ही रखे पीकदान को उठाया और उसमें मुंह के पान को थूकते हुए पनडब्बे से एक बीड़ा पान मुंह में दबाते हुए सामने की ओर देखा, जहाँ जवाहरलाल जी की एक बड़ी-सी तस्वीर लगी हुई थी और बड़े ही उदास स्वर में बोले—'मुझे तो ऐसा लगता है मानो अब वे पहले से भी अधिक उस चांडाल-चौकड़ी (कॉकस) की गिरफ्त में हैं।'

इस वाक्य के बाद कुछ देर के लिए हम दोनों रुक गए। कोई-कोई वाक्य होता ही है, जो वातावरण को भी ठहरा देता है। जहाँ मौन अभिव्यक्त सत्य के समान भविष्य-बोध बन जाता है। जहाँ आदमी की पीड़ा किसी गोली सने

के समान छेद के अन्दर से झाँक जाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों स्थितियाँ जहाँ संगम का रूप ले लेती हैं।

पं० द्वारका प्रसाद मिश्र का वह वाक्य भी ऐसा ही गुरु-गम्भीर इतिहास-सत्य था—'मुझे तो ऐसा लगता है कि मानो अब वे पहले से भी अधिक उस 'चांडाल-चौकड़ी' (कॉकस) की गिरफ्त में हैं।'

करीब १० मिनटों की खामोशी मैंने ही तोड़ी—'पंडित जी अब आगे क्या होगा और हम सबों को क्या करना चाहिए ?'

'मेरी समझ में तो एक बात स्पष्ट तौर से आती है। काँग्रेस जनों को जनता के पास जाना चाहिए और साफ ढंग से कहना चाहिए कि पिछले चुनावों में आप सबों ने जिस कॉकस के कारण और इन्दिरा गाँधी की गलत नीतियों के कारण हमें ठुकराया, हम चाहते हैं कि काँग्रेस द्वारा फिर उनकी पुनरावृत्ति न हो। इन्दिरा गाँधी यदि फिर आती हैं, तो वही होगा।

मिश्र जी ने अपनी चाणक्य-नीति का कपाट खोला—इन्दिरा जी चाहती हैं कि काँग्रेस को छोड़कर जनता को अपना लें और जनता को भुलावा देकर उसका विश्वास प्राप्त कर लें। मेरे पास उस अखबार की कटिंग है, जिसमें उन्होंने कहीं भाषण के दौरान कहा है कि इमर्जेन्सी के दौरान जो कुछ भी ज्यादतियाँ हुई हैं, उनकी मुझे कुछ भी जानकारी नहीं थी। भला बताइए तो, इतना बड़ा सफेद झूठ।'—मिश्र जी की आँखों में वितृष्णा का भाव झलक जाता है।

इसी तरह की साहित्यिक और राजनीतिक बहुत सारी बातें उनके और मेरे बीच होती रहीं। मिश्र जी की सबसे बड़ी खूबी है, समस्याओं की पकड़ और उनके समाधान की स्पष्ट नीति। देश के राजनीतिज्ञों में उनका स्थान विगत ३० वर्षों से उत्कृष्ट एवं सम्मानित रहा है। वे छोटी बातों की छिछोलेदार में कभी नहीं पड़े, किसी भी कुरसी पर वे कभी भी चिपके हुए नहीं रहे और जब कोई कुरसी उनके सामने से हटी वे निस्पृह भाव से 'उत्तरायण' के उत्तरी-कक्ष में जो वास्तव में उनका साधना कक्ष है मनन-चिन्तन और लेखन में जुट गए।

मिश्र जी के अन्दर एक ऐसे विकसित और उदार मानव का वास है, जो केवल बुलबुल की तान पर ही ध्यान नहीं देता, उसके नीड़-निर्माण का भी ख्याल रखता है। तभी तो उनकी चिन्ता किसी कालजयी आत्मा का भैरवनाद है—

'हम लोगों का काम तो पूरा हुआ, अब आगे भविष्य का निर्माण तो आपकी पीढ़ी को ही करना है।'

और साथ-साथ 'दादा' यह भी कहते हैं—'मैं आपको अपनी कुछ दुर्लभ चीजें दे जाऊँगा, जिन्हें आप मेरे मरने के बाद प्रकाशित करायेंगे।'

पास ही बैठे उनके अन्यतम सखा-साथी-अनुयायी श्री नीतिराज सिंह चौधरी मुस्कुराते हैं—'दादा, आप तो स्वयं ही जीवित इतिहास हैं।'

और मेरी आँखों में मिश्र जी का वह पत्र, जिसे उन्होंने ३१ जुलाई, १९७४ को मुझे लिखा था और जो भविष्य-बोध बना उसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ झाँक जाती हैं—

'हम थोड़े ही लोग अब बचे हैं, जिन्होंने देश के उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न आधी शताब्दी पूर्व देखे थे। हम लोग भी व्यथित है, परन्तु विवशता का अनुभव करते है। साथ ही यह भी सोचते हैं कि शायद हमारी चिन्ता अनावश्यक है। स्वराज्य बिना क्रान्ति हुए मिल गया था। क्या वह क्रान्ति अब होने जा रही है ? यदि ऐसा है तो हम वयोवृद्ध लोग परमेश्वर से यही प्रार्थना कर सकते है कि क्रांति का अन्तिम परिणाम देश के लिए अच्छा हो।'

और मुझे ऐसा लगता है मानो जिस क्रान्ति की बात मिश्र जी ने मुझे १९७४ में लिखी थी, १९७७ में आंशिक रूप से उसकी आँधी चली, लेकिन अभी वह क्रान्ति अधूरी है। ●

एक खुली चिट्ठी

श्रद्धेय इन्दिरा जी,

आपको यह पत्र एक कांग्रेस कार्यकर्ता के नाते लिख रहा हूँ, जिसने पिछले दो पुश्तों से राजनीति में सिवा काँग्रेस के और कुछ जाना ही नहीं और जब कभी काँग्रेस की पराजय, दयनीय स्थिति और दरार की बात हुई, तो स्वाभाविक रूप से मेरा दिल काँपता रहा है। विगत अक्तूबर से लेकर २ जनवरी, ७८ तक जो कुछ हुआ, उसकी प्रतिक्रिया सामान्य कार्यकर्ताओं पर और देश के बुद्धिजीवियों पर क्या हुई है, संभवतः आपने उस पर ध्यान नहीं दिया है।

"काँच का प्याला जब टूटता है तो झन्न से आवाज होती है, लकड़ी का फर्नीचर टूटता है तो कड़-कड़ की आवाज होती है, किसी मकान का कोई हिस्सा या कोई मीनार टूटती है, तो बड़े रूप में गड़गड़ाहट होती है, लेकिन जब आदमी का दिल टूटता है तो किसी प्रकार की बाहरी आवाज नहीं होती है। होती है एक कसमसाहट और एक ऐसी अव्यक्त पीड़ा जिसे वह समझकर भी व्यक्त नहीं कर पाता है। पिछले दिनों काँग्रेस की टूट ने देश के लाखों निरीह कार्यकर्ताओं को, जो शहरों से लेकर देहातों तक फैले हुए हैं, उन्हें अन्दर ही अन्दर इस प्रकार तोड़ कर रख दिया है, जिसका अंदाज न आपको होगा, न ब्रह्मानन्द जी को और न उन बड़े नेताओं को जो दिल्ली में बैठ कर इस जोड़-तोड़ की राजनीति का संचालन कर रहे थे।"

काँग्रेस को भारत की जनता ने केवल राजनीति दल के रूप में नहीं, बल्कि एक भावना के रूप में स्वीकार किया था, महात्मा गाँधी की तस्वीर भारतीय जनमानस में किसी काँग्रेसी की तस्वीर नहीं थी, वरन् एक ऐसे महामानव की तस्वीर थी, जो सदियों में कभी-कभी पैदा होता है और जो अंधों के लिए आँख, बहरों के लिए कान और गूँगों के लिए जुबान बन कर छा जाता है। आप में और महात्मा गाँधी में सब से बड़ा अन्तर क्या था, शायद आपने इस पर ध्यान नहीं दिया होगा। मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूँ। 'गाँधी जी ने कहा था गरीबी अपनाओ। आपने कहा गरीबी हटाओ।' गाँधी गरीबों के समान कुटिया बना कर रहते थे, जहाँ सड़क नहीं थी, जहाँ बिजली नहीं थी, जहाँ प्रचार-प्रसार-संचार के

कोई साधन नहीं थे। ऐसे वर्षों में उनका आश्रम बना। स्वयं ५ आने में रहते थे। गरीब के समान ही आधा बदन ढकते थे। रहन-सहन, खान-पान और रोजमर्रा के व्यवहारों में आम भारत झांकता था, इसीलिए गरीब यह समझते थे कि गांधी ने सदा इस बात पर बल दिया कि गरीबी अपनाओ। जो गरीबी नहीं जानेगा, वह गरीबों की अनुभूति को कैसे समझेगा। गांधी का व्यावहारिक जीवन भारत की करोड़ों अधनंगी और भूखी जनता का प्रतीक था और उनके पहले या उनके बाद शायद ही कोई जननेता भारतीय जनता के इतने करीब आ पाया हो।

एक दूसरी बड़ी बात यह भी थी कि गांधी बराबर सत्ता से दूर रहे और उनका ध्यान व्यवस्था की ओर रहा। गांधी जी के समकालीन जितने भी राजनेता दुनिया में हुए और जिन्होंने क्रांति की अगुवाई की, चाहे 'लेनिन' हों, 'माओत्से तुंग' हों, 'कमालपाशा' हों, 'हो ची मिन्ह' हों, कायदे आजम 'जिन्ना' हों—सबके सब क्रांति की सफलता और सत्ता प्राप्ति के बाद उस देश की सत्ता के प्रमुख बने। दुनियां के इतिहास में गांधी ही एकमात्र अपवाद थे, जिन्होंने क्रांति का नेतृत्व किया, देश को आजादी दिलाई लेकिन सत्ता से अलग रहे।

और आप ठीक उनके विपरीत चलीं। गांधीवाद ने आपको भ्रमित नहीं, भयभीत किया। गांधी का नाम लेने में आपको भय होता था, कहीं जनता उनका आचरण न ढूंढने लगे। और आपके लिए सत्ता जीवन का प्रतिपाद्य था। चाहे, वह जिस प्रकार प्राप्त हो और उसका संरक्षण हर हालत में होना ही चाहिए—देश को या जनतांत्रिक पद्धतियों को कुचल कर भी। और इस उद्देश्य की पूर्ति में आप साध्य से इस प्रकार भटक गयीं कि आपका ध्यान साधनों में ही केन्द्रित हो गया। बाद में जब श्री 'संजय गांधी' का उदय हुआ, उसने जनता की रही-सही आशाओं को भी समाप्त कर दिया। भारत की निरीह जनता अवाक होकर देखती रह गई कि जिसने आपको इतना आदर दिया, प्यार दिया, अपनापन दिया, समर्थन दिया और भले-बुरे हर समय में आपका विश्वास किया, उसे ठेस लगी। और नतीजा हुआ कि उसने कांग्रेस की ९२ वर्षों की परम्परा को समाप्त किया। शासनतंत्र से ३० वर्षों बाद उठा कर फेंक दिया, इस प्रकार अतीत अथवा भूत को समाप्त किया। आपने वर्तमान को समाप्त किया और संजय गांधी को अमेठी से हरा कर भविष्य का रास्ता रोक दिया। इस प्रकार भारत की जनता ने एक ही साथ भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों से बदला ले लिया। और दलीलों के लिए आप जो भी कहें सब कुछ की प्रतीक आप थीं, जो हमारी प्रधानमंत्री थीं, जो कांग्रेस की और देश की एकछत्र नेता थीं, जिन्हें कांग्रेस जनों ने भय से अथवा प्रेम से एकछत्र अधिकार दिया था।

आपको कांग्रेस पार्टी ने समर्थन ही नहीं दिया, श्रद्धा और विश्वास भी दिया। बंगलादेश की मुक्ति के बाद दुर्गा और रानी झांसी कह कर हमने आपका अभि-

नन्दन किया। त्रिविकम विलयन के बाद आपको हमने न जानें कितनी बधाइयाँ दीं, परमाणु की उपलब्धि के बाद पूरा देश आपके लिए नतमस्तक हुआ। आर्य भट्ट की उपलब्धियों के बाद हमने तालियाँ बजाकर अपने हर्ष से आपको सम्मानित किया। "लेकिन आखिर वह कौन-सी रेखा थी, जहाँ से हम और आप दो भुजाओं में विभक्त हो गये।" इलाहाबाद के जजमेंट के बाद भी आपका प्रधानमंत्री बने रहना हमें सशंकित कर गया कि आप किसी प्रकार सत्ता से जुड़े रहना चाहती हैं और आपात्काल की घोषणा और उसके बाद संजय गाँधी का प्रभुत्व हमारी शंकाओं को बल प्रदान करता गया और अभी हाल में आपने काँग्रेस को छिन्न-भिन्न करने की जो साजिश की, उसनें हमारें जैसे लोगों के मन में घृणा का संचार कर दिया।

नहीं तो, आपको याद होगा, लोकसभा चुनावों के बाद मैं आप से जब मिला था, तब मैंने भीगे स्वरों में यह कहा था कि "हम सब हार गये थे, तो कोई बात नहीं, लेकिन आप जीत जातीं तो हमारा दुख कम हो जाता। बाद में मैंने गंभीरता से सोचा, यदि आप ही जीत जातीं, तो फिर हम सब हारते ही क्यों? जनता का गुस्सा तो केंद्रित था" रायबरेली में या फिर अमेठी में और उसी क्रोध की अग्नि में हम सब भी क्षार हो गये।

लेकिन यदि आप शालीनता से रहतीं, काँग्रेस संस्था की बुनियादी नीतियों पर हमला न करतीं तो काँग्रेसजन निश्चित रूप से आपके साथ होते। भला काँग्रेस अध्यक्ष श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी का व्यक्तित्व क्या आप से मुकाबला कर सकता था। लेकिन आपकी अधिनायकवादी नीतियों के कारण शायद इतिहास में पहली बार काँग्रेसजन इस प्रकार आपके विरुद्ध उठ खड़े हुए और उन्होंने इतने खुले रूप में आप का विरोध किया। आप को स्वार्थी कहा, आप से जनता को होशियार रहने का आवाहन किया और यह भी कहा कि आप जो भी कर रही हैं, अपने लिए, कॉकस के लिए, संजय के लिए, नहीं तो भला सोचिए तो सही कि सर्वश्री के० सी० पंत, गोविंद नारायण सिंह, श्यामाचरण शुक्ल, बलदेव सिंह आर्य, सरीखे लोग कभी आप के विपरीत सोच भी सकते थे? लेकिन वस्तुस्थिति की चेतना आदमी को कभी-कभी ऐसे निर्णय के क्षणों में लाकर खड़ी कर देती है, जहाँ आदमी अपने से बढ़ कर अपने ईमान को देखता है। हम में से आज कोई भी भविष्य को नहीं देख रहा है, बल्कि अतीत को देख रहा है, जिसके शिकार हम सब हुए और हमारी जलालत की सबसे बड़ी जवाबदेही आप के ऊपर है, क्योंकि आप हमारी एकछत्र नेता थीं।

काग्रेसजन परंपरावादी होते हैं। उन्होंने माना था कि 'पं० मोतीलाल नेहरू' और 'पं० जवाहरलाल नेहरू' का खून देश के साथ, काँग्रेस के साथ कभी दगा नहीं कर सकता है। इसीलिए, चाहे आप कितनी भी भूलें क्यों न करें,

कांग्रेसजन आपके साथ थे, वैसे ही जैसे जवाहरलाल जी कुछ भी कर जायें जनता उनका साथ देती थी। लेकिन जब आपने अपने चारों ओर तृतीय श्रेणी के लोगों का मजमा जमा कर लिया, जब आपने हर किसी को अविश्वास की दृष्टि से देखना शुरू किया और जब संजय गांधी, धवन, बसीलाल, ओम मेहता, यशपाल कपूर, विद्याचरण शुक्ल जैसे लोगों के हाथों मे देश का भविष्य सौंप दिया, तब कांग्रेसजन अन्दर ही अन्दर कांप गये और देश अचकचा गया। यह क्या कर रही हैं आप ? लेकिन, बहुत कम ऐसे थे, जिनकी जुबान से साफ बात निकल पाती थी।

अभी हाल में देश के एक प्रतिष्ठित नेता 'श्री भोलापासवान शास्त्री' से एक व्यक्ति ने पूछा—'जिन दिनों इन्दिरा जी यह सब कर रही थी, आप लोग चुप क्यों थे ? शास्त्री जी ने उसके जवाब में कहा 'भइया, मेलगाड़ी तेजी से भागी जा रही हो, तो किसकी हिम्मत होती है कि दरवाजा खोलकर बाहर भांके। डर लगता है, कहीं हम गिर न जायें। और वही गाड़ी जब प्लेटफार्म पर रुकती है, तो हर आदमी चढ़ना-उतरता है। हम सब गाड़ी के प्लेटफार्म पर रुकने की प्रतीक्षा में थे। रुकी, तो हमने अपनी यात्रा शुरू की।'

"इन्दिरा जी ! मैंने बराबर आपका आदर किया है, आज भी मेरे मन में आपके लिए इज्जत है। लेकिन मैं इस बात को गले के नीचे उतार ही नहीं पाता हूँ कि सारा दल आपकी हामी भरे और सब के सब बंधुआ मजदूर के समान आपकी चाकरी करते रहें। आखिर किसी भी राजनीतिक दल का कोई न कोई भला-बुरा सिद्धांत होता है, दलीय संहिता होती है, विधान होता है, सम्मिलित शक्ति होती है। आपने इन सबों को ताक पर रख दिया है केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए।"

आप खुद सोचिये कि आपको इससे क्या लाभ मिला। आप खुद उस जमाने में कांग्रेस की अध्यक्ष रह चुकी हैं, जब हर ओर कांग्रेस का बोलबाला था। आप ११ वर्षों तक दुनिया की एक सशक्त प्रधानमंत्री रह चुकी हैं। फिर एक छोटे से गिरोह की अध्यक्षा बन जाने में आपको कौन-सा गौरव मिल गया ? यह बात मेरे क्या, किसी की समझ में नहीं आती। पता नहीं इस गौरव की गरिमा आपको किसने बतायी। अंतुले ने, साठे ने, जगन्नाथ मिश्र ने, बसीलाल ने, धवन ने या स्पसाना ने ? लेकिन इस खंडित और जर्जरित मुकुट को अपने सिर पर रख कर आपको कौन-सा लाभ मिला ? जरा खुद आप सोचिए। जिस दिन ३ अक्तूबर ७७ को चौधरी चरण सिंह ने या जनता सरकार ने आपको गिरफ्तार किया था, उस दिन पूरी पार्टी आपके पीछे खड़ी थी, देश के अधिकांश आमजन ने बुद्धिजीवियों ने इस हरकत को जनता सरकार की अविवेकता बतायी थी और वहीं आज कांग्रेस का एक बड़ा भाग आपके स्वार्थों की, तानाशाही वृत्तियों की, संजयवाद की

आलोचना करता है। नुकसान किसका हुआ ? केवल आपका। इतने सारे लोग, जो आपके थे, उन्हें आपने पराया बना दिया।

और वास्तविक स्थिति क्या थी जिन दिनों आपने बीस सूत्री कार्यक्रमों की घोषणा की थी। मेरे जैसे लोग भी उन सूत्रों को तावीज बना कर बाँह में लटकाये हुए थे और दूसरों को बाँट रहे थे—हर मर्ज की दवा कहकर। "उन सूत्रों में एक सूत्र था बंधुआ मजदूरों की मुक्ति। शायद वे मुक्त हो रहे थे, लेकिन पार्लियामेंट के ६० प्रतिशत सदस्य बंधुआ मजदूरी के लिए विवश थे और हर किसी का सट्टा परवाना आपके पास था। किसी ने टेलीफोन से 'हलो' कहा, कहने और सुनने वाले की आवाज एक-दूसरे तक भले कुछ देर से पहुँचे, लेकिन आप तक वह आवाज मुँह से निकलते ही पहुँच जाती थी। यह था आपका चुंबकीय प्रशासन, लेकिन नैतिकता समाप्त होती जा रही थी और उसका सबसे बड़ा मूल्य काँग्रेस संस्था को चुकाना पड़ा, हम सब एक ही नाव पर सवार थे, एक साथ डूबे। लेकिन आप अभी भी इस बात को मानने के लिए शायद तैयार नहीं हैं कि पतवार आपके हाथ में थी, आपने ही नाव को गलत दिशा दी। नतीजा हुआ कि नाव समुद्र के अन्दर के किसी चट्टान से टकरा गयी, चूर-चूर हो गयी।"

किसी सफल नाविक के समान आपको मौसम का ज्ञान नहीं था और आपने तूफान में इस नाव को फंसा दिया और आँध्र में आये इस तूफान के पहले ही उस भयानक तूफान में बहुत सारे निष्कपट, निरीह और भले लोग सदा-सदा के लिए किसी मलबे के नीचे दब गये।

लेकिन सबके बावजूद सरकार के प्रति जनता में क्षोभ का वातावरण पैदा हो रहा था, महँगाई बढ़ रही थी, लोग असुरक्षित थे और एक सशक्त विरोधी दल की आवश्यकता थी। ऐसी घड़ी में काँग्रेस का विभाजन देश की जनता के प्रति एक भयानक संत्रास है। लोग आपसे आप काँग्रेस की ओर आकर्षित हो रहे थे और ऐसी घड़ी में आपने जो कुछ भी नाटक किया और संस्था के मूल्यों को जिस प्रकार नष्ट किया, क्या इतिहास कभी भी इसे क्षमाकर सकेगा ?

काश, आपने 'पं० द्वारका प्रसाद मिश्र' की बात मानी होती, जो आपके कभी सबसे करीब थे और जिन्होंने आपको प्रधान मंत्रित्व तक पहुँचाने में एक बड़ी भूमिका अदा की थी। वह यह कि राजनीति से कुछ दिनों तक अलग रहतीं, साल-दो साल, और आप देखतीं कि भारत की जनता खुद निमंत्रण देकर आपको वापस बुलाती। मिश्र जी की बात भी आपको अच्छी नहीं लगी और उन्हें भी आपने इसके बाद खो दिया। आपको श्री धवन और बंसीलाल सरीखे लोगों की बातें अच्छी लगीं, जिन्होंने आपको बार-बार यही बताया अजी—जनता पर छाये [illegible] जरूरत है। अलग हुए तो जनता बिल्कुल भूल जायेगी।

जी ! समय की छाप इतिहास के चरण हुआ करते हैं। भीड़ वोट

नहीं है और सहानुभूति का अर्थ समर्थन नहीं होता। देश विशाल है, राजनीतिक भविष्य के गर्भ में पाल लाने वाला एक शिशु आपको बहुत लोग अभी भी पसंद करते हैं, लेकिन तभी जब आप 'कॉकस' से अपने को अलग कर लें तथा जनता को यह भरोसा दिला सकें कि आगे आने वाले समय में उस अतीत की कार्यान्विती नहीं होगी, जिसने भारतीय जनमानस को सशंकित ही नहीं किया, प्रतिहिंसा की ज्वाला भी भड़कायी, आपके कार्यों, व्यवहारों, राजनीतिक वक्तव्यों और अधिनायकवादी वृत्तियों के कारण यह शंका और भी प्रबल होती है कि आप में मानवीय अनुभूतियाँ नहीं हैं और जो भी हैं, वह चालाकी है तथा भ्रम में डालने वाले नपे तुले कदम हैं। जनता का अविश्वास ज्यों का त्यों है। सवाल यहाँ न तो आपका है, न श्री चव्हाण या श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी का। सवाल यहाँ नैतिक मूल्यों का है, उसे खोकर आप भविष्य का निर्माण कभी नहीं कर सकती हैं।

कांग्रेस के लाखों कार्यकर्त्ताओं की भावनाओं को जिस प्रकार आपने मरोड़ा है, उसका जवाब एक ही है कि आप इसके लिए उनसे क्षमा माँगें और पुनः कांग्रेस के एक सच्चे सिपाही के समान आप कांग्रेस में लौट आयें। आशा और विश्वास है कि एक शुभेच्छु के नाते मैंने जो भी बातें आपको लिखी हैं, उनका बुरा नहीं मानते हुए आप एक जमात की नेता का पद छोड़कर कांग्रेस में वापस आ जायेंगी और तब हम सब मिलकर जनता सरकार का कड़ा मुकाबला कर सकेंगे तथा भविष्य में जनता इस बात का सही फैसला करेगी कि कौन क्या है।

आशा है मेरी बातों को, जो वस्तुपरक हैं, व्यक्तिगत आरोप नहीं, अन्यथा नहीं लेंगी। •

रह रह कर एम० पी० गिरी याद आती है :

दिल्ली पिछले दिनों कुल मिलाकर छह साल रहा और वह भी एक संसद सदस्य के रूप में। और संसद सदस्य का रौब-दाब क्या होता है, कौन-कौन सी सुविधाएं उन्हें प्राप्त होती हैं, आसमान-जमीन पर चलने-उड़ने का उन्हें कौन-कौन सा अधिकार प्राप्त रहता है वे वही जानते हैं जो एक बार संसद सदस्य रह चुके होते हैं। और एक बार जब कोई संसद सदस्य हो जाये तो उसके बाद और कुछ वह न तो होना चाहता है और न उस पद प्रतिष्ठा से हटना चाहता है। इसलिये स्व० राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर अक्सर मुझसे कहा करते थे कि एम० पी० गिरी छोड़कर मैंने वाइस-चांसलरी स्वीकार की थी, दुनिया में इससे बड़ी बेवकूफी और कुछ नहीं हो सकती है !

श्री अजीत प्रसाद जैन ने तो केरल का राज्यपाल पद छोड़ दिया था, केवल ए० पी० रहने के लिए और इसी प्रकार न जाने कितने उदाहरण हमारे सामने और हैं। वही एम० पी० पद मुझे भी मिला-मात्र छह वर्षों के लिये और इन छह वर्षों की ओर देखकर अब सोचता हूं; तो लगता है मानो या तो वे मिले ही न होते और यदि मिल गये तो फिर छूटे न होते। कहां सारे देश में वायुयान और रेलगाड़ी की पूरी सुविधा, कहीं भी जाओ तो सर्किट हाऊस में मात्र एक-दो रुपये बिजली चार्ज देकर रिजर्वेशन, फिर स्टेट गैस्ट, जिस कमेटी की मीटिंग में जाओ, उस विभाग के अफसरों का एक पांव पर खड़े रहना, संसदीय मीटिंगों में भाग लेने अथवा संसद-सत्र में भाग लेने के लिये ५१.०० रुपये रोज का भत्ता, बैठकों और सत्रों में भाग के लिये आने-जाने में रेल पास के अतिरिक्त भी एक प्रथम श्रेणी और एक द्वितीय श्रेणी का अतिरिक्त किराया, संसद-सत्र के समय पत्नी के साथ आने-जाने का रेल 'पास' के अतिरिक्त रेल में एक द्वितीय श्रेणी का साथ के सज्जन के लिये भी पास ! दिल्ली में रहने के लिये बंगला, सेंट्रल हाल की मंद मंद हवा; वहीं चाय-काफी-नाश्ता, खाना सबों की किफायती दामों में व्यवस्था। रेल का आरक्षण हो या हवाई जहाज का, संसद भवन से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। बैंक ओर पोस्ट आफिस भी संसद भवन के अन्दर ही, बंगले

या फ्लैट का किराया किफायती से भी किफायती, बिजली-पानी-फर्नीचर-सफाई किसी प्रकार की जरूरत हो तो फोन करते ही आदमी हाजिर; दिल्ली और अपने निवास पर भी फोन की सुविधा, अनेकानेक कमेटियो मे रहने पर रौब-दाब और दबदबा, किसी भी अधिकारी को फोन उठाकर कह देना ही उसकी कुर्सी हिलादेने के लिये काफी, साल दो-साल मे विदेश जाने की भी सुविधा। भला इन बातो की याद किसी भी भूतपूर्व संसद सदस्य को आती होगी, तो रात की नीद तो जरूर हराम हो जाती होगी !

मैं तो मात्र छः साल एम० पी० रहा, इसलिये कुछ हद तक सम्भल भी गया, लेकिन उनका हाल क्या होता होगा, जो २० साल, २५ साल २७ साल से लगातार एम० पी० थे। मेरी समझ मे उनका दुःख और उनकी पीडा मेरे जैसे लोगों मे पाच-छह गुनी अधिक होगी। और उन बेचारे मन्त्रियो का हाल क्या होता होगा, जो बिना पी० ए० न तो चल पाते थे, न फोन कर पाते थे, न गाड़ी का दरवाजा खोल पाते थे, और न एक फाइल स्वयं अपने हाथों उठा पाते थे। उनमे भी जो लगातार दस बीस, पच्चीस साल मंत्री रह गये उनका हाल तो और बेहाल होगा।

मुझे जब कभी कोई भूतपूर्व मंत्री या भूतपूर्व ससंद सदस्य मिल जाते है, तो बड़े करीने से यह सवाल उनसे पूछता हूँ कि वे दिन जब याद आते हैं, तो आपको कैसा लगता है ? बहुत सारे तो अपनी झेंप मिटाने के लिये हे…हे…हाँ…हा… करते हुये कह देते हैं—मुझे तो कोई फर्क नही पडा है। ज्यो का त्यों हूँ। कुछ लोग इस प्रकार हैं भी, लेकिन कई लोगों के पिचके गाल, उदास चेहरे, परेशानी से भरा जिस्म देखकर उनके संकट का अन्दाज हो जाता है और दया उमड पडती है।

बहुत से ऐसे भी होते है, जो बेचारे ईमानदारी से अपनी बातें कह देते है—'भाई, परेशानी-ही-परेशानी है। कहा दिल्ली की मौजभरी जिन्दगी और कहां अपने कस्बे का भिनभिनाता जीवन। पर करें क्या ? जनतंत्र मे जो भी फैसला हो, मानना चाहिए, आखिर गये भी तो थे, हम उन्ही की बदौलत। अब फिर पाच साल बाद पहुँचेंगे। ये बातें आत्मविश्वास की भी है और सही भी।

× × ×

एक भूतपूर्व मंत्री मिले तो, घुमा फिरा कर मैंने उनसे यही सवाल किया, बेचारे बड़ी इमानदारी मे बोले—'भाई साहब, आप से क्या छुपाऊं ! घर से बाहर निकलने में भी लाज आती है, पिछले दस साल तक मंत्री रहा, जाना ही नहीं कैसे कौन काम होता है। जो जानता भी था वह भी पी० ए० और पी० एस० के फेर मे भूल गया ! यहा तो नौबत यह है कि लोग आजकल मिलने जुलने में भी कतराते है। एक दिन ऐसा हुआ कि चुनाव वाली जीप से जा रहा था। ठीक बाजार में वह बंद हो गई। ड्राइवर ने कहा कि बिना ठेले स्टार्ट नही होगी।' मैं

रह रह कर एम० पी० गिरी याद आती है :

दिल्ली पिछले दिनों कुल मिलाकर छह साल रहा और वह भी एक संसद सदस्य के रूप में। और संसद सदस्य का रौब-दाब क्या होता है, कौन-कौन सी सुविधाएं उन्हें प्राप्त होती है, आसमान-जमीन पर चलने-उड़ने का उन्हें कौन-कौन सा अधिकार प्राप्त रहता है वे वही जानते है जो एक बार संसद सदस्य रह चुके होते हैं। और एक बार जब कोई संसद सदस्य हो जाये तो उसके बाद और कुछ वह न तो होना चाहता है और न उस पद प्रतिष्ठा से हटना चाहता है। इसलिये स्व० राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर अक्सर मुझसे कहा करते थे कि एम० पी० गिरी छोड़कर मैंने वाइस-चांसलरी स्वीकार की थी, दुनिया में इससे बड़ी बेवकूफी और कुछ नहीं हो सकती है !

श्री अजीत प्रसाद जैन ने तो केरल का राज्यपाल पद छोड़ दिया था, केवल ए० पी० रहने के लिए और इसी प्रकार न जाने कितने उदाहरण हमारे सामने और हैं। वही एम० पी० पद मुझे भी मिला-मात्र छह वर्षों के लिये और इन छह वर्षों की ओर देखकर अब सोचता हूं; तो लगता है मानो या तो वे मिले ही न होते और यदि मिल गये तो फिर छूटे न होते। कहां सारे देश में वायुयान और रेलगाड़ी की पूरी सुविधा, कही भी जाओ तो सर्किट हाऊस में मात्र एक-दो रुपये बिजली चार्ज देकर रिजर्वेशन, फिर स्टेट गैस्ट, जिस कमेटी की मीटिंग में जाओ, उस विभाग के अफसरों का एक पांव पर खड़े रहना, संसदीय मीटिंगों में भाग लेने अथवा संसद-सत्र में भाग लेने के लिये ५१.०० रुपये रोज का भत्ता, बैठकों और सत्रों में भाग के लिये आने-जाने में रेल पास के अतिरिक्त भी एक प्रथम श्रेणी और एक द्वितीय श्रेणी का अतिरिक्त किराया, संसद-सत्र के समय पत्नी के साथ आने-जाने का रेल 'पास' के अतिरिक्त रेल में एक द्वितीय श्रेणी का साथ के सज्जन के लिये भी पास ! दिल्ली में रहने के लिये बंगला, सेंट्रल हाल की मंद मंद [illegible] नाश्ता, खाना सबों की किफायती दामों में व्यवस्था। [illegible] जहाज का, संसद भवन से बाहर जाने की [illegible] आफिस भी संसद भवन के अन्दर ही, बंगले

मामूली का किराया, किराये में भी किफायती, बिजली-पानी-नर्सी घर-सफाई किसी प्रकार की जरूरत हो तो फोन करते ही आदमी हाजिर; दिल्ली और अपने निवास पर भी फोन की सुविधा, अनेकानेक कमेटियों में रहने पर रोब-दाब और दबदबा, किसी भी अधिकारी को फोन उठाकर कह देना ही उसकी कुर्सी हिलाने के लिये काफी, साल दो-साल में विदेश जाने की भी सुविधा। भला इन बातों की याद किसी भी भूतपूर्व संसद सदस्य को आती होगी, तो रात की नींद तो जरूर हराम हो जाती होगी !

मैं तो मात्र छः साल एम० पी० रहा, इसलिये कुछ हद तक सम्भल भी गया, लेकिन उनका हाल क्या होता होगा, जो २० साल, २५ साल ३० साल से लगातार एम० पी० थे। मेरी समझ में उनका दुःख और उनकी पीड़ा मेरे जैसे लोगों से पांच-छह गुनी अधिक होगी। और उन बेचारे मन्त्रियों का हाल क्या होता होगा, जो बिना पी० ए० न तो पग पाते थे, न फोन कर पाते थे, न गाड़ी का दरवाजा खोल पाते थे, और न एक फाइल स्वयं अपने हाथों उठा पाते थे। उनमें भी जो लगातार दस बीस, पच्चीस साल मंत्री रह गये उनका हाल तो और बेहाल होगा।

मुझे जब कभी कोई भूतपूर्व मंत्री या भूतपूर्व संसद सदस्य मिल जाते हैं, तो बड़े करीने से यह सवाल उनसे पूछता हूँ कि वे दिन जब याद आते हैं, तो आपको कैसा लगता है ? बहुत सारे तो अपनी झेंप मिटाने के लिये हें…हें…हां…हां… करते हुये कह देते हैं—मुझे तो कोई फर्क नहीं पड़ा है। ज्यों का त्यों हूँ। कुछ लोग इस प्रकार हैं भी, लेकिन कई लोगों के पिचके गाल, उदास चेहरे, परेशानी से भरा जिस्म देखकर उनके संकट का अन्दाज हो जाता है और दया उमड़ पड़ती है।

बहुत से ऐसे भी होते हैं, जो बेचारे ईमानदारी से अपनी बातें कह देते हैं—'भाई, परेशानी-ही-परेशानी है। कहां दिल्ली की मौजभरी जिन्दगी और कहां अपने कस्बे का भिनभिनाता जीवन। पर करें क्या ? जनतंत्र में जो भी फैसला हो, मानना चाहिए, आखिर गये भी तो थे, हम उन्हीं की बदौलत। अब फिर पांच साल बाद पहुँचेंगे। ये बातें आत्मविश्वास की भी हैं और सही भी !

× × ×

एक भूतपूर्व मंत्री मिले तो, घुमा फिरा कर मैंने उनसे यही सवाल किया, बेचारे बड़ी ईमानदारी से बोले—'भाई साहब, आप से क्या छुपाऊं ! घर से बाहर निकलने में भी लाज आती है, पिछले दस साल तक मंत्री रहा, जानता ही नहीं कैसे कौन काम होता है। जो जानता भी था वह भी पी० ए० और पी० एस के फेर में भूल गया ! यहां तो नौबत यह है कि लोग आजकल मिलने जुलने से भी कतराते हैं। एक दिन ऐसा हुआ कि चुनाव वाली जीप से आ रहा था। ठीक बाजार में वह बंद हो गई। ड्राइवर ने कहा कि बिना ठेले स्टार्ट नहीं होगी।'

नीचे उतर कर सिर नीचा कर ठेलने लगा कि शायद दो चार लोग आकर लग जायेंगे, लेकिन जिस शहर में कभी मेरे स्वागत में वंदनवार सजाये गये थे, हर आदमी माला लेकर गले में डालने को आतुर था, जय-जय कारों से आसमान गूंज उठा, उसी में यह हालत थी कि एक आदमी मेरी गाड़ी में हाथ लगाने को भी तैयार नहीं था। उन्होंने एक लम्बी सांस ली, मैंने अपने मन में कहा, यही तो जनतन्त्र है !

एक मंत्री महोदय मिले। जो तीन-चार साल ही मंत्री रह पाये थे, उन्होंने बड़ी कोशिश की आंख बचाकर भाग जायें, लेकिन मैं कहां छोड़ने वाला था, लपक कर मैंने उन्हें पकड़ा—"भाई साहब क्या हाल-चाल है, कहां हैं आजकल, क्या कर रहे हैं ?"

खादी ग्रामोद्योग के पास रीगल की बगल में वे मिल गये थे, बोले—"बच्चों की पढ़ाई-लिखाई का सबसे मुश्किल सवाल है, मैं तो रात-दिन कोई किराये के मकान खोजने में ही लगा हूँ, अब तक कोई मकान नहीं मिल पाया है।

"मैंने पूछा—तो आखिर हैं कहां, यहां ?"

उन्होंने बड़ी कोशिश की कि बात टल जाये, लेकिन मैं छोड़ने वाला कहा था। अन्त में उनके मुंह से बात निकलवा ही ली। मायूसी के साथ बोले—'क्या करता वो,जो भूतपूर्व एम० पी० है न, जो पहले मंत्री रह चुके हैं उन्होंने अपना बंगला अभी नहीं छोड़ा है, उन्हीं के आउट हाउस' में तत्काल मैं हूँ। लेकिन बड़ी तकलीफ है।

× × ×

लेकिन अपनी ही बात अब अधिक कहूं। रह-रह कर दिल्ली और एम० पी० गिरी याद आती है। सुख के सुविधाओं में रह कर आदमी भूला रहता है, खोया रहता है, बराबर दिमाग आसमान पर रहता है। कुछ वैसा ही हाल रहा, लेकिन खुशी की बात यही रही कि जमीन से संबंध नहीं छूटा था, इसलिये तकलीफ की मात्रा कुछ कम रही। वैसे दिल्ली इसलिये और भी याद आती है कि वहां मित्रों-हितैषियों-शुभेच्छुकों का बहुत बड़ा काफिला तैयार हो गया था। साहित्यिक-सांस्कृतिक वातावरण बन गया था, सारे भारत के लोगों से सम्पर्क हो गया था। राजधानी की अपनी रंगीनी ही और होती है; उस चकाचौंध से भला कौन ऐसा होगा, जो न रंग जाये !

दिल्ली से हटने के बाद इन दिनों पटना में हूं। यह भी एक बड़ा शहर है, बिहार प्रांत की राजधानी—कभी यह नगर मौर्यों का केन्द्र बिंदु था। चन्द्रगुप्त और अशोक सब हुए यहां। यहां और इसके आसपास भगवान महावीर और
...न बुद्ध के चरणों की थाप भी है—लेकिन इन सबके बावजूद उस समय भी
...र या दिल्ली का रौबदाब कुछ अपना ही था; और आज भी कुछ अपना

ही है। कहा वे चकचकाती हुई सड़कें, कहां वे आसमान को छूने वाले भवन, कहां कनाट प्लेस और जनपथ की रौनक, कहां बुद्ध पार्क और नेहरू पार्क की हवा, कहां राजघाट की दूब और शान्तिवन के गुलाब, कहा राष्ट्रपति भवन और पार्लियामेंट की मीनार, कहां जगह-जगह झरनों और फूलो और पार्कों की भरमार, कहां विभिन्न दूतावासों की दावतें, कहां एक से अनेक राजनीतिक सरगर्मिया और कहा मानचित्र के किसी कोने में दुबका हुआ-सा बेचारा यह शहर पटना। दोनों मे जमीन और आसमान का अन्तर है। इसलिये तो रह-रहकर दिल्ली याद आती है।

वहा आंखें खुली नही कि अखबार हाजिर और यहा इंतजार करते-करते आंखें पथरा जाती हैं और समाचार जब पुराने होने लगते हैं, तब अखबार वाले की साइकिल पहुंचती है। वहा बच्चो की पढाई का एक स्वस्थ सिलसिला बसें और पढाई का स्तर हर जगह से सन्तोषप्रद और यहा हफ्ते मे तीन दिन स्कूल-कालिजों मे हडताल और सम्पूर्ण-क्रान्ति की गूंज।

भला ऐसी स्थिति मे दिल्ली क्यों न याद आये। अब तो भूलने लगा हूं कि अशोक, अकबर और ओबेरॉय नाम का कोई होटल भी है इस देश मे। कभी-कभी मोतीमहल का जायजा याद आता है। तो लार टपकती है। और सब तो सब कहीं मिल भी जाये, लेकिन इंडिया गेट की शाम और मदमाती हवा शायद ही कहीं मिले, वे खोमचे वाले, आइसक्रीम वाले, घासों पर पड़े-पड़े रोमांस करने वाले और बिना किसी काम यों ही चहलकदमी करने वाले जोड़े न भूलते हैं न भुलाये जा सकते हैं।

इसलिये तो रह-रहकर वे दिन याद आते हैं—सपनो मे भी और सिहरनो मे भी। अनुभूतियों मे भी और जिज्ञासाओं मे भी। पता नही अब कभी दिल्ली पहुंचना होता है या नही—उस रूप मे जिस रूप में दिल्ली मे विगत छह वर्षों तक रहा। अभी भी दिल्ली प्रायः आता-जाता रहता हूं, लेकिन स्टेशन से जब कोई टैक्सी या स्कूटर लेकर आगे बढता हूं और उसका ड्राइवर यह पूछता है कि साहब कहा चलना है, तो मुंह से बरबस वे ही पुराने सेमे याद हो आते हैं—मीनाबाग और फिरोजशाह रोड और आवाज एक कसक बनकर रह जाती है। •

कुछ लोग

स्व० नलिन विलोचन शर्मा

लौ ! जो मद्धिम नहीं हुई !

बहुत लोगों को यह दुनिया उनकी जिन्दगी में ही माननीय मानती है मगर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनके विषय में यूं कहा जाता है—'शान्त और स्निग्ध, पावन और मधुर। नलिन जी ऐसे थे, जिनकी याद रह-रहकर टीस उत्पन्न करती है। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की प्रतिमा। सत्, चित्, आनन्द का विराट् व्यक्तित्व।

नलिन जी अब न रहे, यह सहसा विश्वास के परे की बात है। जिनके पास बैठने में कभी समय का भान नहीं हुआ, जिनकी अमृतमयी वाणी सुनते कान कभी अघाते नहीं थे और जिनसे ऐसी कोई बात, कोई समस्या, कोई जटिलता नहीं थी जिसे हम छिपाते हों—अब नहीं हैं।

जब कभी मैं विभिन्न कामों से काशी, इलाहाबाद, लखनऊ, दिल्ली, कलकत्ता आदि शहरों में बिहार के बाहर गया और वहाँ साहित्यकारों की चर्चा छिड़ती तो बिहार का स्मरण लोग नलिन जी के रूप में करते। वास्तविक बात यह कही जा सकती है कि नलिन जी के व्यक्तित्व में प्राप्त परम्परा के प्रति महत्व होते हुए भी नये साहित्यिक अथवा सामाजिक जागरण के प्रति ऐसा लगाव था—जिससे प्राचीन और नवीन दोनों युगों का विचित्र मेल उनमें हो गया था।

संस्कृत और हिन्दी, काव्यशास्त्र और भाषाविज्ञान, व्याकरण और उपन्यास, नई कविता और प्राचीन आख्यान—सबों के वे एक ऐसे मर्मज्ञ और व्यापक अध्येता थे जिसकी तुलना हम किसी से कर नहीं सकते।

उनकी विद्वता जितनी कठिन थी, उनका व्यक्तित्व उतना ही सरल था। तमाम विरोधी तत्वों का विचित्र सम्मिलन उनके व्यक्तित्व में निहित था। यही कारण था कि क्लास में प्रेमचन्द के 'गोदान' पर भाषण देने वाले नलिन जी, दूसरे ही क्षण जब काव्यशास्त्र या भाषाविज्ञान पर भाषण शुरू करते थे तब हमें समझने में अत्यन्त कठिनाई होती थी कि एक ही व्यक्ति इतनी सरलता के बाद, इतनी क्लिष्टता में कैसे उतर जाता है।

विश्वविद्यालय के नलिन जी और साहित्य-सम्मेलन के नलिन जी में भी वैसा ही अन्तर देखने को मिलता था। विश्वविद्यालय में वे अत्यन्त गम्भीर और चिन्तन-

शील दिखाई देते थे और वहीं साहित्य-सम्मेलन की कुर्सी पर प्रस्फुटित और उन्मुक्त। घर में बिल्कुल परिवर्तन हो जाता था—बालकोचित हँसी सदा मुखरित होती रहती।

किससे उनका अधिक लगाव था यह अन्तर निकाल पाना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। जो भी उनके सम्पर्क में आया—स्नेह की धारा में सिंचित होता रहा। उनके स्नेह की बाती ऐसी, जिसकी लौ मृत्यु-शय्या तक जाते-जाते भी कभी मद्धिम नहीं हुई।

न जाने कितने लोगों की आशा, आकाँक्षा और पारिवारिक सम्बन्ध उनके साथ था। सारे देश में असंख्य स्नेही-मित्र और बन्धु-बान्धव उनके बिखरे पड़े हैं और आज सभी नलिन जी के वियोग में अपने को असहाय अनुभव कर रहे हैं।

साहित्य में भी तमाम विरोधीवादों और विवादों के विरोधियों और समर्थकों की आँखें नलिन जी की ओर लगी रहती थीं। किसी की कोई पुस्तक प्रकाशित हो वह चिन्तित कि नलिन जी की क्या राय होती है? बड़ा से बड़ा साहित्यकार इस चिन्ता में कि दो पंक्ति भी लिख देते तो कलम का सौभाग्य! और नलिन जी ऐसे कि मित्रता में उदार, मिलने-जुलने में अत्यन्त सरल, बातचीत में बिल्कुल निष्कपट, परन्तु साहित्य के मूल्याँकन में उतने ही कठोर। आलोचना के क्षेत्र में वे पारस-पत्थर थे—सोने और पीतल की परख होने पर ही जैसे जौहरी मूल्य देता है, वैसे ही इनका मूल्याँकन था।

प्रश्न उपस्थित होता है कि नलिन जी का व्यक्तित्व इतना सरल होते हुए भी कैमरे के कैन्वास में कभी नहीं अंटता था और न तो तूलिका का समावेश ही वहाँ होता था—यह क्यों? एक मात्र उत्तर यही है कि कई विरोधी-तत्वों का समावेश उनके व्यक्तित्व में था। यही कारण था कि हममें से कई, आपसी विरोधी होते हुए भी एक वे ऐसे वृक्ष थे जिनकी छाया में शान्ति की साँस लेते थे। समाज में रहते हुए भी वे सामाजिक कुरीतियों से वैसे ही दूर थे जैसे पुरइन का पत्ता।

न जाने दुनिया में कितने आते हैं और आकर चले जाते हैं, परन्तु रह जाती है, कीर्ति की अर्चना। सही है कि नलिन जी का पार्थिव शरीर अब हमारे बीच नहीं, परन्तु उनका यश, कीर्ति, स्नेह, सौहार्द और सबको अपना बना देने वाली उनकी स्मृति युग-युग तक अमर है। •

स्व० रामवृक्ष बेनीपुरी

अट्टहासों के बीच खोई एक जिन्दगी

हास्य कोई आकृति नहीं है, लेकिन जब-जब किसी की हंसी और वह भी अट्टहास कानों में पड़ती है, तो एक आकृति आकर सामने खड़ी हो जाती है और लगता है मानो ये सारे हँसने वाले नकल मात्र हैं, वास्तविक अट्टहास तो कहीं सदा के लिए खो गया है। मस्ती से सराबोर एक चेहरा, आंखों में भी तैरती हंसी, होठों पर मुस्कुराती हंसी और मुंह खोलने के बाद पान की ललाई के साथ अट्टहासों का एक अनजान-सा काफिला—इतना अपना, इतना जाना-पहचाना, इतना स्वाभाविक कि दूर-दराज अंधेरे में खड़े कोई शब्दवेधी बाण के समान उसे पहचान ले कि अरे, यह अट्टहास तो बेनीपुरी जी के सिवा और किसी का हो ही नहीं सकता।

पटना की साहित्यिक धरा आघातों और घावों से पट गई है। कुछ ही वर्षों में भीषण प्रहार हुआ है—काल का। आदरणीय नलिन जी गये, उसके कुछ ही दिनों बाद शिव जी नहीं रहे, बाबूजी (स्व० कामता प्रसाद सिंह 'काम') शिव जी के जाने के तीन-चार दिनों बाद ही चले गये, बेनीपुरी जो भले-चंगे हो गये थे लेकिन अकस्मात् उनके नहीं रहने का समाचार पटना में मुजफ्फरपुर से आया और अंत में अभी कुछ ही दिनों पहले हंसते-खेलते, चौराहों पर जमात को गुद-गुदाते श्री ब्रजकिशोर 'नारायण' भी चले गये। तब तो ऐसा लगता है, मानो पटना के साहित्याकाश की बेल समाप्त हो गयी है, यह जो खड़ा है तना, ही है। वहां तक कोई इतराये, और वह भी किस पर।

श्रद्धेय बेनीपुरी जी का पहला दर्शन १९४९ में बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के समय गया में हुआ था। उस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष पिताजी थे और उसकी अध्यक्षता कर रहे थे आदरणीय डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु जी। बेनीपुरी जी और सुधांशु जी में उस साल अध्यक्षपद के लिए चुनाव हुआ था। सुधांशु जी विजयी हुए थे, लेकिन अधिवेशन में सुधांशु जी और बेनीपुरी जी साथ-साथ बैठते, एक साथ रहते और कहीं कोई ऐसा चिह्न नजर नहीं आता था जिससे दोनों में कोई तफरका मालूम हो।

छटपटा उठते थे। अंग्रेजों की गोलियों का मुकाबला करने वाले बेनीपुरी जी के लिए भला यह कब अभीष्ट था कि वे करवटें लेते हुए समय बिता दें। इसीलिए बीमारी के दिनों में भी वे एक जगह कहां रह पाते थे, कभी पटना, तो कभी मुजफ्फरपुर, तो कभी बम्बई, कभी दिल्ली, तो कभी बेनीपुर।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने उनके संबंध मे कहा था कि आपके पास कलम है या जादू की छड़ी। इससे आगे कुछ भी बेनीपुरी जी के बारे मे नही कहा जा सकता है। उनकी कलम मे कितनी ताकत थी और भाषा को मोड़ते रहने की कैसी अद्भुत क्षमता थी इसका सबूत उनका साहित्य है। कही गुलाब की भीनी सुगंध, तो कही कड़ियों की खनखनाहट, कहीं पेरिस की रंगीनी, कहीं बेनीपुर की हरियाली, कहीं टप-टप चूती सावन की बूंदें, कहीं गर्मियों में फूले अमलतासों के गुच्छे, कहीं चौपाल की चटपटाहट तो कहीं शहरी नोकें की वास—इन सबों से बेनीपुरी-साहित्य भरा पड़ा है। साधरणीकरण के सिद्धांत बेनीपुरी जी पर सटीक बैठते हैं। उन्होंने जो भी लिखा, आत्मानुभूतियों से लबरेज होकर, इसीलिए पाठक उनके साहित्य को पढते समय स्वय भी यह अनुभव करता है कि यह जो भी लिखा गया है, उसका अपना ही है।

बेनीपुरी जी जिस पीढ़ी के प्रतीक थे, वह पीढ़ी क्रांति और शांति दोनों का प्रतिनिधित्व करती थी। राजनीति की धूल मे तर-बतर बेनीपुरी जी दोनों को एक साथ लेकर चलते थे और इसीलिए शरीर की स्वेद बूंदों मे जहां राजनीति की चमक देखने मे आती थी, वहीं आत्मा की गहराइयों मे एक विराट साहित्यकार सोता था—जो सदा अपना अलख जगाये रहता था।

वे साहित्याकाश के एक ऐसे नक्षत्र थे, जिनकी चमक अकेली भी ध्रुव के समान चमकती रहती थी और पहचानने में कोई दिक्कत नहीं होती थी। आज उनके नहीं रहने से लगता है, जैसे सारा का सारा आकाश सूना हो गया है और न जाने कितनों की आंखें उस नक्षत्र को ढूंढ रही हैं, जिसके बिना आकाश हल्का, उदास और खोया-खोया-सा दिखलाई देता है। ●

क्या लिखूं कुछ भी : अपने पिताजी के संबंध में

बहुत कठिन होता है अपने किसी भी आत्मीय के संबंध में लिखना और वह भी अपने पिताजी के संबंध में लिखना तो और भी कठिन कार्य है। मैं नहीं समझ पाता कि कैसे कहां से शुरू करूं, कहां खत्म करूं, जीवन की कड़ियों को कैसे जोड़ूं और किन-किन घटनाओं को पिरोऊं, किन-किन को छोड़ दूं।

जब भी लिखने को सोचता हूं, सबसे पहले २५ जनवरी, १९६३ का वह कालजयी क्षण मेरी आंखों के आगे आकर खड़ा हो जाता है, जिस दिन क्रूर काल ने उन्हें हमसे छीन लिया। आज बारह साल बीत जाने के बाद भी सोचता हूं तो लगता है कि अभी-अभी वे हमारे सामने थे और देखते-देखते चले गये। कितना क्रूर होता है काल, कितनी विषपायी होती है मृत्यु, कितना भयानक होता है पुत्र के सिर से पिता का साया उठ जाना, कितनी पीड़ा और यातना का शिकार होना पड़ता है ऐसे क्षणों में—इसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

अनुभूतियों के कजरारे क्षण न लिखे जा सकते हैं और न पढ़े जा सकते हैं।

२० जनवरी, १९६३—जब हम उन्हें दूसरी बार पटना मेडिकल कालेज हास्पिटल में ले आये थे, अभी मेरी आंखों के सामने घूम रहा है। कहां हम जानते थे कि जिन उम्मीदों को साथ लेकर हम उन्हें अस्पताल ले जा रहे हैं, वे उम्मीदें नाग बनकर हमें डंस लेगी और हम सबों का सुनहरा संसार सदा के लिए समाप्त हो जायेगा। कुछ ही दिन पहले, लगभग ८-१० दिनों पूर्व हम उन्हें भला-चंगा अस्पताल से ले आये थे और यह दूसरी बार दिल का दौरा था, हम उन्हें लेकर फिर अस्पताल पहुंचे।

हार्ट की बीमारी का पता तो चलता नहीं, इसलिए हमने अपने सभी सगे-संबंधियों को २१-२२ जनवरी को तार दे दिया कि चले आयें।

२३ जनवरी को दो बातें ऐसी प्रत्यक्ष हो गईं जिन्हें लिखते हुए कांपता हूं। उनके चिकित्सक डा० श्री निवास सवेरे जब देखने आये तो मुझे बुलाकर अपने चैम्बर में ले गये और बड़े ही आत्मीय ढंग से उन्होंने मुझे कहा—आप मेरे भाई के समान हैं तथा कामता बाबू को मैं 'पेसेन्ट' के रूप में नहीं देखता, परिवार के

रूप में देखता हूं, अतः कभी भी कुछ हो सकता है, भगवान की माया ही ऐसी है, हम सबको संतुलन नहीं खोना चाहिए।

'डाक्टर साहब, आप कहना क्या चाहते हैं ?'—मैं अन्दर ही अन्दर हिल उठा था, मेरी आंखों में आंसू फूट पड़े।

डा० श्रीनिवास एक चिकित्सक ही नहीं, ऐसे सहृदय मानव और गौरवशाली व्यक्तित्व हैं, जिनके प्रति विश्वास, निष्ठा और श्रद्धा टपकती है। मेरी विह्वलता समझने उन्हें तनिक भी देर न लगी, मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोले—देखिये, आप समझदार भी हैं और छोटे भाई के समान हैं। घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन स्थिति की गंभीरता को भी ध्यान में रखना है। मैं हर संभव उपाय में लगा हूं।—मैंने पाया कि उनके स्वर में भी कम्पन है तथा काले चश्मे के भीतर से न दिखाई पड़ने वाली आंखों में भी पानी छलछला आया है।

'डा० साहब, जैसे भी हो बाबूजी को बचा लीजिये। जो भी खर्च होगा, जमीन-जायदाद बेचकर हम चुका देंगे। इंगलैंड, अमेरिका—कहीं से दवा मंगानी हो, मंगा लें, लेकिन उन्हें बचा दीजिये।—कहता हुआ मैं डाक्टर साहब के चैम्बर में ही फूट-फूटकर रोने लगा। पहली बार मुझे एहसास होने लगा, मानो कहीं कुछ होने को है, जिसका आभास हम में से किसी को नहीं है और न तो हम विश्वास ही कर पाने के लिए तैयार थे।

काटेज में लौटकर आया तो बाबू जी ने मेरा उदास चेहरा देखकर पूछा—कहां गये थे क्या बात है ?

—डाक्टर साहब के पास दवा आदि के संबंध में पूछने गया था।—बहुत मुश्किल से मैंने अपनी आंसुओं को रोकते हुए कहा।

—क्या कहते थे ?—उन्होंने फिर पूछा।

—कहते थे कि अब पहले से ठीक हैं। कुछ दवा और इंजेक्शन में हेर-फेर करने के लिए कहा है।

मेरी बातें सुनकर उन्होंने एक दीर्घ सांस ली और आंखें मूंदकर सोने का उपक्रम करने लगे।

२३ तारीख की शाम को लगभग ७ बजे बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री पं० विनोदानन्द झा बाबूजी को देखने आये। आते ही उन्होंने कहना शुरू किया—कामता बाबू, आप क्षत्रिय हो, जरा भी घबराना नहीं चाहिए। और जाना भी पड़े तो हंसते-हंसते जाना चाहिए। मैं ब्राह्मण हूं, आशीर्वाद देने आया हूं, भगवान आपकी रक्षा करें।

इसी तरह की कई बातें उन्होंने की तथा १५-२० मिनटों तक बैठने के बाद चले गये।

'तुम लोग मुझे झूठ-मूठ का दिलासा दे रहे हो, विनोदानन्द झा मुझे ऐसे

देखने नहीं आते। जरूर डाक्टरों ने कहा होगा कि मैं अब नहीं बचूंगा। तभी ये आये थे। भला मुख्यमंत्री से कोई बात कैसे छिपी रह सकती है।'

'और सुना नहीं, उन्होंने बार-बार कहा कि हंसते-हंसते जाना चाहिए।'—धीरे-धीरे, लेकिन सधी आवाज में बाबूजी ने कहा। उन की आवाज में सहसा एक विचित्र परिवर्तन आ गया था—निराशा और अंतहीन चेतना का स्वर बोध। उनकी मूंदी पलकों के नीचे क्या-क्या चिन्तन चल रहा है, इसे हममें से कोई भी, जो वहां पर थे, समझ सकते थे।

हम सबों ने बड़ी चेष्टा की उन्हें समझाने की, बहलाने की, इधर-उधर की बातें करने की, लेकिन उनके ऊपर एक ही भूत सवार था—विनोदानन्द झा मुख्यमंत्री हैं, उन्हें डाक्टरों ने जरूर कहा होगा कि अब मैं नहीं बचूंगा, तभी वे देखने आये थे। और सुना नहीं, उन्होंने बार-बार यही कहा कि हंसते-हंसते जाना चाहिए।

उसी समय से उनकी आंखों में एक विचित्र निराशा ने घर कर लिया। हम सभी कुछ भी कहें वे इसे बहलाना मात्र समझते थे।

२४ को एक सज्जन उन्हें देखने आये, जो अमूमन शायद ही कभी आते हों, उनके जाने के बाद बाबूजी ने कहा—ये देखने आये थे कि मैं कब जा रहा हूं।

२३ और २४, रात और दिन अनथक प्रयास करते रहे, हर तरह की भाग-दौड़, बिस्तरे के पास मां, चचा, मेरे श्वसुर डा० के० एम० सिंह, डा० यदुवीर सिंह, मुरली बाबू, रामसूचित भाई, भुनेश्वर, पद्मनारायण जी, बलराम बाबू, मेरी पत्नी तथा मेरा छोटा भाई अशोक सब देखते रहे, लेकिन हममें से कोई उन्हें बचा नहीं सका—न सेवा, न सुश्रुषा, न अर्चना और वे २५ जनवरी को प्रातः ५ बजे हम सबको छोड़कर चले गये।

मृत्यु का आभास उन्हें पहले ही हो गया था, जैसे पुण्यात्माओं को हुआ करता है। तीन बजे रात में नर्स इंजेक्शन देने आई, उन्होंने कहा—इसकी क्या जरूरत है, पांच बजे तक तो मैं नहीं जा रहा हूं।

४ बजे उन्होंने घबराकर आंखें खोलीं—क्या समय हो रहा है ?

—चार !

आधे घंटे तक रुक-रुककर बातें करते रहे—घर, मकान, जमीन, गाड़ी—सबकी बातें। कौन कहां रहेगा, किसको क्या मिलेगा—सब तरह की बातें। उनकी महान आत्मा में इतना विस्तार था जो लुटाना जानती थी, संजोना नहीं। कहीं से भी संकीर्णता उनमें छू भी न गई थी। अंत-अंत तक उदार, उदात्त, उत्तुंग।

५ बजने में ५ मिनट शेष थे, उन्होंने आंखें खोलीं—क्या समय हो रहा है ?

—पांच बजने में पांच मिनट बाकी हैं।

—ठीक है, पांच बजे बाद मैं न रहूंगा।

और घड़ी ने पाच बजाये, उन्होंने आंखें खोली, परिश्रम से हाथ उठाने की कोशिश की, हाथ न उठ सके और आखें मुद गई और फिर वे आखें नही खुली।

जीवन और मृत्यु—कौन सत्य और कौन असत्य—आज तक यह सोचता रहा हूं, लेकिन इस प्रश्न का उत्तर न मिला और न ही शायद मिल सकेगा।

आज मैं लोकसभा का सदस्य हूं, समाज मे अपनी प्रतिष्ठा है, राजनीति में अपना स्थान है, मित्रों का स्नेह है, परिवार का अखड सुख है, स्वस्थ और प्रसन्न रहता हूं, कभी किसी बात की चिन्ता नही सताती और न तो कभी किसी परेशानी का साया गालो पर मडराता है। दुर्लभ से दुर्लभ वस्तुए सुलभ हो जाती हैं—प्यार, प्रेम, स्नेह, अपनत्व, अनदेखा, अनसोचा—और सबके मूल मे पाता हूं कि पिताजी का ही पुण्य-प्रताप है, जिसने मुझे यह प्रतिष्ठा दी तथा मुझमें निष्ठायें जगाई।

'बाढ़े पूत पिता के घरमे।
खेती ऊपजे अपने करमे।'

अक्षरशः सच्चाई है, इस कथन में।

मृत्यु के समय तक पिता जी बिहार विधान परिषद के सदस्य थे, उस समय मैं अपनी पत्नी के साथ एम० एल० ए० फ्लैट में ही रहता था, मृत्यु के बाद उसे खाली करना पड़ा। कहा जानता था कि इसके कुछ ही वर्षों बाद दिल्ली मे एम० पी० का क्वार्टर मेरी प्रतीक्षा कर रहा है।

औरंगाबाद से विधान सभा की एक सीट मिल जाये (कांग्रेस का टिकट), इसके लिए कितनी दौड़-धूप की और प्रयास किया, लेकिन न मिला या नही दिया गया। कहा जानता था कि एक दिन ऐसा आयेगा कि केन्द्रीय चुनाव समिति के सदस्य के रूप मे पूरे देश के लिए कांग्रेस की टिकट बाटूंगा।

पिता जी की मृत्यु के बाद कर्ज चुकाने के लिए मैंने गाड़ी बेच दी थी, उस समय कहा सोचा था कि एक दिन ऐसा आयेगा जब पांव हवाई-यात्राओं में ही थकते रहेंगे।

आज मैं जो कुछ भी हूं—उनकी देन है। उनके जीवन का आदर्श मेरा आदर्श है—किसी को सताओ नही, किसी का अहित न करो, किसी को चूसो मत और जितना बने दूसरों की सतत मदद किया करो।

आज उनके सैकड़ों साहित्यिक-राजनीतिक और सामाजिक मित्र मेरे पास आते हैं और मैं उनकी भरपूर मदद करता हूं। वे सभी मेरे लिए पिता जी की थाती के समान हैं तथा मुझे इन सेवाओं में बड़ी खुशी होती है।

सबसे बड़ी प्रसन्नता मुझे इस बात से ही रही है कि ग्रामीण अंचल में, देव और भवानीपुर के बीच में, जो पिताजी की जन्मभूमि और कर्मभूमि थी 'कामता-

सेवा-केन्द्र' की स्थापना हम करने जा रहे हैं। इस संस्थान की मेरे दिमाग में कई रूप-रेखायें हैं, जिनका आंशिक अंश भी पूरा कर लूंगा तो अपना बहुत बड़ा सौभाग्य मानूंगा।

मेरी अभिलाषा है कि 'कामता-सेवा-केन्द्र' एक ऐसी जीवित संस्था बने जिसके माध्यम से आंचलिक जीवन की महिमा का उद्घाटन हो। इस संस्था द्वारा एक ओर जहां गरीबों-दुखियों-पीड़ितों की सेवा हो, वहीं साहित्यकारों के लिए भी एक विशेष धरातल यह हो सके।

पिताजी की अमूर्त भावनाओं को मूर्त्त रूप देने का यह एक सहज-सरल प्रयास है, जिसके लिए अपनापन भरा प्रेम और स्नेह तथा सद्भाव मुझे हर ओर से मिल रहा है।

प्राणी नश्वर होता है, लेकिन विचार अजर-अमर होते हैं। 'कामता-सेवा-केन्द्र' बाबूजी के विचारों का प्रतिबिम्ब होगा—यह मेरा अपना विश्वास है तथा शेष जिन्दगी की लालसा है। ●

स्व० रामधारी सिंह 'दिनकर'

कहां गई वे बातें, कहां गये वे दिन

१९७४ के १६ अप्रैल की वह गदराई सांझ, जो रह-रहकर आंखों में उजाला करती है और क्षणमात्र में अंधेरा घिर आता है। ४३ नं०, मीना बाग। छोटे और बड़े के बीच का कमरा। एक साथ बैठे हैं, देश के बहुरंगी व्यक्तित्व—साहित्यकार, राजनेता, कलाकार। तत्कालीन कांग्रेस-अध्यक्ष डा० शंकर दयाल शर्मा, तत्कालीन पर्यटक मंत्री डा० कर्णसिंह, तत्कालीन संचार मंत्री या फिर उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री हेमवतीनन्दन बहुगुणा, तत्कालीन सूचना-प्रसारण राज्य मंत्री श्री इन्द्र कुमार गुजराल, तत्कालीन शिक्षा उपमंत्री श्री डॉ० पी० यादव, वर्तमान जनता पार्टी के अध्यक्ष श्री चन्द्रशेखर, श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी, श्री भागवत झा 'आजाद', श्रीमती यशोराज्य लक्ष्मी, श्री कृष्णकांत और साहिर लुधियानवी तथा साजिर हुसैन और कई अन्य सारे। लेकिन इन सबों से अलग-अलग एक ऐसा भी व्यक्तित्व है वहां, जो सबों के सिर पर चढ़ कर बोल रहा है और 'जादू वही जो दूसरों के सिर पर चढ़ कर बोले'।

हां, वही जादुई व्यक्तित्व। आर्यपुत्र के समान भव्य और दिव्य ललाट, वाणी में उदात्त आकर्षक, शालीनता के साथ-साथ सांस्कृतिक मर्यादा, विवेकपूर्ण चेतना और कलापूर्ण अभिव्यक्ति। वह व्यक्ति सबसे अधिक बोल रहा था, सब लोग सब से अधिक उसे सुन रहे थे और उपस्थित राजनीतिक तथा साहित्यिक-मण्डली आपसे आप नमित थी उस व्यक्तित्व के सामने।

वह अभिनव व्यक्तित्व किसी और का नहीं—राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर का था, जो इस गोष्ठी की याद बिखेरते हुए उसके आठ-दस दिनों बाद ही हमसे सदा-सदा के लिए बिछुड़ गये। रह गई वह याद जो भुलाये नहीं भूलती और रह-रहकर कुरेदती रहती है।

खूब जमकर उस दिन गोष्ठी हुई। एक-दो कविताएँ दिनकर जी सुनायें तो दो-तीन नज्में और गजलें साहिर साहिब। किसी कवि और किसी शायर की वह ऐसी अनौपचारिक सन्ध्या थी जो सारे वातावरण को अपनी हथेली पर थामे हुए थी। न कवि थक रहा था; न शायर सुस्ता रहा था और न श्रोता दम लेने को

या छोड़ने को तैयार थे.।

मेजबान के नाते मैं स्वयं सरावोर हो रहा था। एक ओर सारा ग्रंग श्रवण वनकर उस माहौल को पी रहा था, तो दूसरी ओर मैं तथा मेरी पत्नी अतिथियों की आवभगत तथा चाय-काफी में तत्परता से लगे थे।

लोगों के आग्रह पर दिनकर जी 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' के कुछ चुने हुए प्रसंग सुना रहे थे . भगवान कृष्ण जव पाण्डव-दूत के रूप में कौरवों के पास गये तो दुर्योधन ने उनका निरादर किया और उसने कृष्ण की एक भी वात नहीं मानी, तो कृष्ण ने कौरव-सभा में कहा—

'जव नाश मनुज का आता है,
सारा विवेक मर जाता है।'

'रश्मिरथी' की ये पंक्तियाँ थीं इस पर डाक्टर शंकर दयाल शर्मा 'वाह-वाह' कर उठे, तो दिनकर जी ने कहा—'सुन लो शंकर दयाल, ये पंक्तियाँ तुम्हारे 'मैडम' (तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी) पर उतरती हैं, उनसे यह कह देना।' वाद के दिनों में जव भारतीय राजनीति में दुखद घटनाचक्रों का सिलसिला प्रारम्भ हुआ तो रह-रहकर 'रश्मिरथी' की उक्त पंक्तियाँ मुझे याद होती रहीं।

उस दिन मुझसे वड़ी भूल यह हुई कि उस अवसर का न तो चित्र ले सका और न ही 'टेप' कर सका। मेरे मित्र श्री वजरंग राजगढ़िया, जिन्हें मैंने दिनकर जी को लाने के लिए भेजा था, उन्होंने कहा भी था कि इस अवसर का चित्र हो जाना चाहिए, मैं फोटोग्राफर लेता आऊँगा, लेकिन मैंने ही मना कर दिया था—वरावर इस प्रकार के आयोजन मेरे घर पर होते ही रहते हैं, किसी और दिन ले लेंगे।

हमें क्या मालूम था कि वह चित्र-ध्वनि की आखिरी साँझ है।

हालाँकि उसके दूसरे या तीसरे दिन स्टार पाकेट वुक्स के संचालक श्री मरनाथ ने जो आयोजन किये थे उसमें हम सवों के संयुक्त चित्र आये और मैं मझता हूँ किसी समारोह का दिनकर जी का यह आखिरी चित्र है, स्मृति-धरोहर समान।

क्योंकि उसके दूसरे ही दिन वे मद्रास चले गये थे और वहाँ से फिर वापस लौट-नहीं आये—आया उनका पार्थिव शरीर, जो वार-वार अग्नि की रेख के साथ कह रहा था कि—दिनकर नाम डूवने वाले का नहीं होता।

यों तो पटना में रहने के कारण उनसे घरेलू सम्वन्ध था। मेरे पिताजी और भाई के समान हिले-मिले थे और उसी आधार पर मेरे साथ भी उनका सम्वन्ध ा-पुत्र के समान ही था। लेकिन १९७१ में मैं जव एम० पी० होकर दिल्ली था और वे जव भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद से निवृत्त होकर तो प्राय: मेरे पास आया करते थे। वहुत सारी अनौपचारिक वातें होतीं—मेरा

घर उनका घर था, अतः समय की कोई सीमा थी नहीं, आते, घण्टों बैठते, जो मन में आता मेरी पत्नी से कहते, वह बनता, वे चटखारा ले-लेकर खाते, बच्चों को प्यार करते, इधर-उधर की काव्य-पंक्तियाँ सुनाते और स्नेह से गदगद् करके जाते।

दिनकर जी का उदात्त व्यक्तित्व न कहीं झुकता था और न ही संधि करता था। सरस्वती उनकी जिह्वा पर विराजती थी। गद्य भी बोलते थे तो पद्य के समान सुवासित लगता था। जैसे गुलदस्ते में फूल सजाये जाते हैं, वैसे ही उनके वाक्य होते थे, जिन्हें सुनकर मजा लेने की तबीयत होती थी।

जब तब मजाक में कहा करते—देखो, इस जनतन्त्र में सबसे मौज का और अलमस्ती का अगर कोई पद है तो एम० पी० का। दिल्ली में मकान, पूरे देश की सैर करने के लिए रेलवे-पास, रोब-दाब जमाने के लिए टेलीफोन, बैठने और गप्प करने के लिए सेन्ट्रल हाल, काम कुछ नहीं; आराम सब कुछ। मुझे तो पागल कुत्ते ने काटा था कि 'एम० पी०-गिरी' छोड़कर 'वाइस-चांसलरी' में चला गया।

मेरे निवास पर उनकी मुलाकात प्रायः बिहार के पुराने मित्रों से हो जाया करती थी। ऐसा दबंग व्यक्तित्व था उनका कि बड़े-बड़े लोग उनके सामने बौने लगते थे, चाहे वे साहित्य के हों या राजनीति के

मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि उनका स्नेह-आशीर्वाद अन्त-अन्त तक मुझे मिला। •

स्व० व्रजकिशोर नारायण

गोताखोर : जो मोती की खोज में खो गया

पटना के जन-जीवन और साहित्य-जीवन के लिए गत २० जनवरी '६६ एक काल-दिन था, जिस दिन देश-प्रसिद्ध साहित्यकार और पटना के जन-जीवन के प्राण श्री व्रजकिशोर 'नारायण' सदा के लिए हम सवों से विछुड़ गये। 'नारायण' जी का जीवन एक झंझावात था और उनकी मौत भी एक झंझावात है। वे भाटा में ज्वार की तरह जिये और किसी गोताखोर के समान मोती की तलाश में समुद्र में विलीन हो गये। किनारे पर खड़े हम सव यह आस देखते ही रहे कि वे अव निकलेंगे, अव निकलेंगे; लेकिन कौन जानता था कि मोती लाकर दुनिया को वैभव प्रदान करने वाला गोताखोर सदा के लिए अतल समुद्र में लीन हो गया है!

'नारायण' जी क्या थे और क्या नहीं थे, इसका विश्लेपण कर पाना मेरे लिए वहुत ही कठिन है। साहित्यकार के रूप में, कवि के रूप में, पत्रकार के रूप में, नाटककार के रूप में, यात्रा-लेखक के रूप में, उपन्यासकार के रूप में तथा व्यंग्य-कार के रूप में साहित्य-जगत उनसे परिचित है; लेकिन मेरा उनका सम्बन्ध इन सभी विधाओं से परे केवल व्यक्ति का था। और, इसीलिए मेरे लिए यह भेद कर पाना वहुत कठिन है कि वे साहित्यकार के रूप में महान् थे कि व्यक्ति के रूप में।

लेखन कोई संज्ञा नहीं है, लेखन एक क्रिया है और इसीलिए 'नारायण' जी ने अपने ५० वर्षों के जीवन में लगभग एक सौ पुस्तकों की रचना की और उनमें साहित्य का कोई भी अंग अछूता नहीं छोड़ा। लिखने की, और वाद में वोल कर लिखवाने की उनकी गति विचित्र थी। वे रूलदार बड़े रजिस्टर पर ही अपनी पांडुलिपि तैयार करते थे और ऐसा करते थे कि एक वार लिख कर या लिखवा कर, फिर संशोधन की गुंजाइश उसमें नहीं रह जाए। दिन-भर में दस पृष्ठों से ले कर पच्चीस पृष्ठों तक लिखना उनका सामान्य कार्य था और कभी-कभी यह गति चालीस पृष्ठों तक पहुँच जाती थी।

पर उन्हें कहे तो कौन कहे! हमारे सामने रांगेय राघव और मुक्तिवोध नजर आते और वार-वार 'नारायण' जी से हमलोग यह कहा करते कि आप इतना परिश्रम न करें, लेकिन किसकी मजाल थी जो उनकी कलम पकड़ ले, उनके

विचारों को अवरुद्ध कर सके। वे जो दूसरों को रास्ता दिखलाते थे, वे जो दूसरों को कलम चलाने की शिक्षा दिया करते थे, वे जो दूसरों की पाडुलिपियों का सशोधन किया करते थे, वे जो मार-पीट कर दूसरों को लेखक बना दिया करते थे—उन्हें कौन क्या कहता !

'नारायण' जी विचित्र 'पार्जियन' थे और विचित्र हमदर्द दोस्त। जिससे जरा-सा अपनापा हुआ, उसे जीवनभर के लिए उन्होंने अपने में समेट लिया और फिर अपने में और उसमें कोई भेद नहीं रखा तथा उसकी खुशी और गम का हिस्सेदार स्वयं को बना लिया। मिलने पर किसी साहित्यकार से उनके लिए यह पूछना स्वाभाविक था कि आजकल क्या लिख रहे हो। वैसे ही यह भी पूछना वे कभी नहीं भूलते थे कि परिवार की क्या स्थिति है, क्या हाल-चाल है, घर में सब स्वस्थ तो हैं, बच्चे कैसे हैं तथा किसी प्रकार की तकलीफ तो नहीं है। यह पूछ कर वे साहित्य से अलग परिवार हो जाते थे और इसीलिए निधन के बाद उनके पाठकों की सख्या मात्र ही दुःख नहीं व्यक्त कर रही है; बल्कि उनकी मृत्यु पर रोने वाले जो भी हैं, उनमें अधिक संख्या उनके परिवारजन्य मित्रों की है।

'नारायण' जी बहुत साफ दिल और दिमाग के व्यक्ति थे। किसी प्रकार का लाग-लपेट मन में नहीं रख सकते थे। जो भी बात कहनी हो, साफ तौर से कहते थे और मन में किसी के प्रति कुछ भी रख पाना उनके लिए सम्भव नहीं था। प्रशसा हो तो मुह पर और निन्दा हो तो मुह पर। इसके लिए लोग कभी-कभी नाराज भी होते थे, लेकिन उन्हें कोई भी न तो डिगा सकता था, न हिला सकता था। वे जो थे, स्वयं थे। उसमें न किसी का अनुसरण था और न किसी की छाप थी। मौलिकता उनमें कूट-कूट कर भरी थी। लिखने-पढ़ने से लेकर, जीने-मरने तक की मौलिकता।

उदासी और चिन्ता को कभी वे अपने पास फटकने नहीं देते थे। ठहाकों के बीच अपने सारे गम गलत किए रहते थे। इसीलिए उनके मित्रों की इतनी अधिक संख्या थी, जितनी सख्या साधारणतया कठिन है। इसीलिए वे व्यक्ति न रह कर समाज हो गये थे। इसीलिए वे साहित्यकार की आस्था और सामाजिक प्राणी का विश्वास प्राप्त कर सके। इसीलिए उनकी याद भुलाये नहीं भूलती है।

जीवन का प्रारम्भिक काल उन्होंने गुजराँवाला, पजाब में बिताया था और इसीलिए बातों की लापरवाही में वे बराबर इसका हवाला दिया करते थे कि उनका सस्कार अलमस्ती का है, जीवन की कला उन्होंने वहीं सीखी है। मामूली हवा-अधड़-तूफान की वे परवाह नहीं करते थे और कहते थे कि यह शरीर तुम्हीं लोगों के समान नहीं है, यह पंजाब का हवा-पानी पी कर तैयार हुआ है और खेल-कूद में बना है।

'नारायण' जी की मृत्यु पटना के लिए एक ऐसा दर्द है, जिसे झेल पाने-

कोई दवा नहीं है। उनके शोक में केवल साहित्य-जगत ही विह्वल नहीं है; बल्कि पान की दुकान वाला, उनके कपड़े सीने वाला, उनके रोजमर्रा के समान देने वाला' और ऐसे ही न जाने कितने हैं, जो उनकी याद कभी भुला नहीं पाएँगे। 'नारायण जी का स्वभाव बन गया था कि जिस किसी दुकान से एक बार सम्पर्क बना लेते थे, उसे छोड़ते नहीं थे। दो रुपये रिक्शे का भाड़ा देकर भी एक रुपये का सामान वे उसी दुकान से खरीदते थे, जो उनकी पेटेण्ट दुकान थी। अपनापा निभाने की जैसी अद्भुत क्षमता उनमें थी वैसी साधारणतया दुर्लभ होती है। मित्रों के घर जाकर कुशल समाचार पूछना और सप्ताह में कम-से-कम दस रुपये खर्च करके सबों से मिल लेना उनकी दिनचर्या बन गयी थी। उनका डायरी का अन्तिम अंश फोन-डायरेक्टरी थी, जिसमें दुनिया भरके लोगों की नम्बरें रहतीं और जहाँ कहीं भी फोन के पास होते, मित्रों-परिचितों को फोन करके हाल-चाल ले लिया करते। अपनापा निभाने की जैसी गहरी आत्मीयता उनमें थी, वह दुर्लभ है। किसी का लड़का बीमार है, किसी का मकान बन रहा है, किसी को नौकरी नहीं मिल रही है, किसी की अपने पड़ोसी से लड़ाई है, कोई मकान की तलाश में है, किसी को कहीं आना-जाना है, किसी की रचना पत्र-पत्रिकाओं से लौट आती है, किसी की कोई किताब छप रही है और प्रेस वाले बिना भुगतान लिये फर्मा देने को तैयार नहीं हैं, किसी की आर्थिक स्थिति खराब है, उसे कोई कवि सम्मेलनों में नहीं बुला रहा है—ये सारी चिन्ताएँ उनकी अपनी थीं। कोई कितना भी कहे कि आप काजी जी के समान शहर के अन्देशे से क्यों दुबले हो रहे हैं तो यह भी सुनना वे बर्दाश्त नहीं करते। ऐसे थे 'नारायण' जी।

आदमी जब नहीं रहता है, तो उसकी याद रह-रह कर कुरेदती रहती है। कितना भी प्रयास क्यों न करूँ, परन्तु वे स्मृति-कण किसी प्रकार सँजोए नहीं जा सकते। जैसे दीये की बाती से लौ का संचार होता है, वैसे ही वे ऐसे जीवन-लौ थे, जिनके सान्निध्य से जीवन-रस की धारा बहती थी। आज उनके नहीं रहने से लगता है कि ऐसा सूनापन और विरानापन आ गया है, जो मौसमी न होकर बेमौसमी हो। जहाँ हम दो-चार मित्र होते हैं, उनकी ही चर्चा छिड़ जाती है और वे सामने आकर खड़े हो जाते हैं। वही हँसता-मुस्कराता चेहरा, बेझिझक किसी बात की तह से निकलती हुई कोई बात और लहरों में तैरता स्वर का आरोह-अवरोह।

न जाने कब तक उनकी याद पटना के सामाजिक-साहित्यिक वातावरण को अन्ततः उनके लिए लीले रहेगी। कोई भी गोष्ठी हो, किसी का सम्मान हो, कोई भी साहित्यिक मिलन हो—वे सबसे आगे दिखलायी देते थे और पूरा वातावरण उनकी उपस्थिति से अपने को महका-महका अनुभव करता था।

वे एक ऐसे केन्द्र-बिन्दु थे, जो हम सबको मिलाते थे। उनका आँगन किसी

एक का नहीं था—चित्रकार, संगीतकार, कवि, मूर्त्तिकार, समाजसेवी और पत्र-कार—सब एक साथ उनके पास जुटे रहते थे और सबों की एक ऐसी समृद्ध जमात लेकर चलने की स्वाभाविकता उनमें थी, जो अब ढूँढने से भी नहीं मिलेगी। उन्होंने अपनी कविता-पुस्तक 'मधुमय' में किसी के लिए ये निम्नलिखित पंक्तियाँ कही हैं, जो आज मैं उनके लिए कह रहा हूँ—

"नजरों से ऐसे जुदा हो गये हैं,
कि लगता है, जैसे खुदा हो गये हैं।"

वे नहीं रहे, लेकिन उनकी याद···

'देखिए, आप इतना अधिक अपने क्षेत्र में दौड़धूप न लगाइये।'—मुस्कुराते हुए बड़े ही अनौपचारिक ढंग से कहा था उन्होंने, जो अभी तक मेरे कानों में गूंज रही है—'चुनाव कामों से नहीं, हवाओं से जीता जाता है। मैं आपको अपनी एक आपबीती सुनाऊं, तब मेरी बात साफ हो जायेगी। मैं १९७१ में जब गाजियाबाद से लोकसभा के लिए खड़ा हुआ तो एक कस्बे में चुनाव के दस-पन्द्रह रोज पहले एक चुनाव सभा में गया। भाषण देकर उतर रहा था कि एक हरिजन बुढ़िया मेरे पांवों में रोती-कलपती लिपट गई कि मेरे लड़के को पुलिस वालों ने बेगुनाह पकड़ लिया है और इतना मारा है कि वह थाने में बेहोश पड़ा है।

मुझे ताव आ गया और मैंने बुढ़िया को अपनी गाड़ी में बैठाया तथा सीधा कोतवाली पहुँचा। वहाँ सच में उसका बेटा हाजत में बन्द था और पुलिस वालों ने उसकी निर्ममता से पिटाई की थी। मैंने कोतवाल को बहुत डांटा और कहा कि निकालो इसे बाहर। और वह भी सकते में आ गया तथा उसे निकाल दिया। उसके बाद मैं उस लड़के को तथा उस बुढ़िया को गाड़ी पर बैठाकर उसके घर पहुँचा आया तथा एक सौ रुपये भी इलाज के लिए तथा खाने के लिए दिये।

अब आप समझ सकते हैं कि मेरा यह वोट तथा इसके प्रभाव से अन्य वोट ...ो पक्का हो गया। लेकिन बात कुछ और ही हुई। मैं उसके पांच-छः महीने ...ाद उसी कस्बे में एक मीटिंग में गया, तो भाषण के बाद सामने ही वही बुढ़िया ...ड़ी मिली। उसने आगे बढ़कर मेरे पांव छुये और कहा कि शास्त्री जी आपने ...झे पहचाना। मैं प्रयास कर ही रहा था कि वह बोली, 'मैं वही बुढ़िया हूँ, जिसके ...ड़के को आपने पुलिस की हिरासत से निकाल कर जान बचाई थी। लेकिन ...स्त्री जी, एक बात के लिए मैं आपसे माफी माँगने के लिए खड़ी हूँ। पिछले ...नाव में मैंने भी आपको वोट नहीं दिया था और बाद में मुझे जब यह पता चला ... आप हार गये, तो मुझे बहुत अफसोस आया।'

'मेरी उत्सुकता बढ़ी, मैंने उससे पूछा कि तुमने मुझे क्यों नहीं वोट दिया था?' तो वह बोली—मेरे पास कई सारे लोग मुहल्ले के आते रहे और कहते

रहे कि इस बार 'गरीबी हटाओ' के लिए वोट देना है, लेकिन मैं बराबर कहती थी कि मेरा वोट तो शास्त्री जी के बक्से में जायेगा। अन्त में मैं जब वोट देने के लिए लाइन में खड़ी थी, तो अगल-बगल के लोगों ने कहा कि इस बार यदि कांग्रेस को वोट नहीं दिया गया तो गरीबी नहीं हटेगी। मैंने भी सोचा कि चलो, मेरे एक वोट से आपके हार-जीत का फैसला तो होता नहीं है। अतः मैंने गाय-बछड़े में ही मुहर लगा दिया।'—उन्होंने इस पर अट्टहास लगाया—'अब आप समझे मेरी बात। एलेक्शन कामों से नहीं, हवाओं से जीता जाता है।'—विगत् चुनावों में हवा की जगह जब तूफान चला और उसमें बड़े-बड़े मकान, पेड़, जीव-जन्तु धस-विधस होते रहे, तो रह-रहकर मुझे उनकी याद आती रही।

और जब चुनाव में पराजित होकर मैं पहली बार उनसे दिल्ली में मिला, तो मैं भी उनके सामने अट्टहास कर उठा—शास्त्रीजी, आप बिल्कुल ठीक कहते थे, चुनाव कामों से नहीं, हवाओं से जीता जाता है।

और यह वेदों के समान उक्ति, पुराणों के समान स्मृति, देवों के समान नैतिक आचरण, मानवों के समान सहजानुभूति और गंगा के समान निर्मलता रखने वाले कौन थे?

—श्री प्रकाशवीर शास्त्री, जिन्हें काल ने २३ नवम्बर, १६७७ में हमें 'स्वर्गीय' संबोधन देने के लिए बाध्य किया है, लेकिन सच्चाई यह है कि वे मरने वाले थे ही नहीं। और उनकी अमरता ऐसी है, जो हर क्षण उनके शाश्वत होने का ही बोध कराती है।

□ □ □

शास्त्री जी के बारे में सोचना है तो सोचना ही रह जाता है। जिन्होंने उन्हें देखा होगा वे जानते हैं कि शास्त्री जी का छरहरा शरीर, अजानबाहु, उन्नत ललाट, स्मित मुस्कानों से सने होंठ, बराबर नमस्कार की मुद्रा में जुड़े हाथ और हर वाक्य या शब्द में कोनों की घोल वाली मिठास– जो विरले ही लोगों में देखने को मिलता है। और इसीलिए शास्त्री जी को सौ या हजार में नहीं, बल्कि लाख में पहचाने जा सकते थे और जो कोई भी उनसे एक बार मिला हो, वह उन्हें जीवन भर नहीं भूल सकता।

सरलता उनकी जीवन-रेखा थी और सहजता उनकी पहचान।

और वही श्री प्रकाशवीर शास्त्री, २३ नवम्बर, १६७७ को सहसा अपने पीछे दोस्तों, मित्रों, सहयोगियों, शुभेच्छुओं का एक लम्बा काफिला छोड़कर अन्तर्धान हो गये। जैसा उनका शरीर था, स्वास्थ्य था, दिनचर्या थी, आचार-विचार और खान-पान था, उसे देखते हुए मेरे जैसा व्यक्ति निश्चित रूप से यह अनुमान लगा सकता था कि ऐसे ही जीवन के लिए 'अजर अमर' कहा गया है।

लेकिन कौन क्या कह सकता है, मौत के सम्बन्ध में। चोरी और चुपके मौत का साया कब किसके ऊपर किस प्रकार आ जायेगा कोई नहीं जानता। और ठीक यही हुआ शास्त्री जी के साथ भी।

२३ नवम्बर को जिस दिन उनका देहावसान हुआ, उस दिन राज्य सभा में उन्हें 'समाचार' पर होने वाले चर्चा की शुरुआत करनी थी, उसी दिन सवेरे अपने घर पर 'समाचार भारती' के कार्यकर्ताओं से बातचीत करनी थी, उसी दिन शाम को डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के घर पर 'समाचार भारती' की आवश्यक बैठक उनकी सुविधा के अनुसार ही बुलाई गई थी। लेकिन कहाँ हुआ कुछ भी। वे तो दिल्ली पहुँचने के ५०-६० मील पहले ही बावला और रोपड़ के बीच रेल-दुर्घटना में इस प्रकार हत हुए कि उठ भी नहीं सके और न तो अपने मन की कोई भी बात वे किसी से कह सके। न तो स्वयं उन्हें यह पता चला कि वे हम सबों को छोड़कर जा रहे हैं और न हम सबों को दिन में २ बजे तक यह पता हो सका कि वे हमें छोड़कर चले गये हैं।

जिस अहमदाबाद-मेल से शास्त्री जी आ रहे थे, उसे दिल्ली पहुँचना था सवेरे साढ़े सात बजे और मैं इसी उम्मीद में शास्त्री जी के घर साढ़े नौ बजे पहुँचा कि अब तो वे स्नान-ध्यान से निबृत हो गये होंगे, वहीं यह पता चला कि गाड़ी अभी लेट है और दस बजे तक आयेगी, लेकिन जब ग्यारह बजे तक वे नहीं आये, तब मैं वहाँ से दूसरी जगहों में चला गया। और यह भी नियति का एक कितना बड़ा मखौल कि शास्त्री जी को साढ़े सात बजे सवेरे दिल्ली पहुँचना था, वह ठीक १२ घंटे विलम्ब से साढ़े सात बजे शाम को घर पहुँचे, होठों पर वही स्मिति, बाहुओं का वही पहचाना फैलाव, शरीर की वही परिचित बनावट और भव्य ललाट की वही दूर से चमकने वाली दिव्यता--लेकिन शास्त्री जी थे कहाँ? न बेधती आंखें, न हिलते होंठ, न चुम्बकीय वाणी, न कहीं कुछ!

यह क्या से क्या हो गया? उनके निवास १, केनिंग लेन पर उमड़ती भीड़—मंत्री, बड़े अधिकारी, संसद सदस्य, संपादक, पत्रकार, साहित्यकार, सामाजिक कार्यकर्ता, आर्य समाजी पंडित—सबके सब अवाक्।

प्रतीक्षा थी आने की सवेरे, आये शाम को—और आने के पहले ही प्रस्थान कर गये।

अघटित घटना जब घटती है तब आदमी काँप जाता है, सिहर जाता है और अवाक् हो जाता है।

कैसे यह क्या हो गया?

पिछले महीने ही तो शास्त्री जी २ अक्तूबर की उस प्रथम बेला में मेरी बगल में खड़े थे—राजघाट में बापू की समाधि पर। और हमारे सामने भटकनों में कैद बापू की आत्मा थी अमूर्त्त और मूर्त्त रूप में समाधि पर फूलों और गजरों

के ढेर, रामधुन की भिन-भिनी पैदा कर देने वाली आवाज, चर्खा-यज्ञ में तल्लीन सुध-बुध खोये हाथ और चारों ओर दूबों की फैली वह बेशुमार हरियाली।

क्या हमें कुछ भी पता था उस दिन कि हमारे आसपास की यह हरियाली बहुत जल्द मरुभूमि में बदल जायेगी ?

हाँ, शास्त्री जी चले गये और हमें बता गये कि सब कुछ झूठ-ही-झूठ है—कुछ भी सच नहीं। न आशा, न आकांक्षा, न रूप, न लावण्य, न गृह, न आत्मीय, न वे, और न हम। २४ नवम्बर को निगमबोध घाट पर अन्तिम-दर्शन के समय उनके ललाट की रेखाओं पर एक ही सवाल अंकित था—क्या सच ? क्या झूठ ?

कुछ ऐसा ही होता है जीवन में। सच झूठ हो जाता है और झूठ सच। परिधियों का विस्तार किसी मछुवे का जाल हो जाता है, "कौन जाने किस मछली का भाग्य इन छिद्रों से झाँक रहा है ?"

२ अक्तूबर को गाँधी-जयन्ती के अवसर पर राजघाट हम दोनों श्रद्धांजलि अर्पित करने साथ-साथ गये थे, क्या किसी को भी यह आभास था कि दो महीने भी पूरे नहीं होंगे कि हम उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करेंगे।

सच कहूँ, मेरा तो विश्वास उठ गया है उस दिन से जीवन के प्रति और हर क्षण एक जीवित विश्वास मुझे थपकियाँ देता है—कि जीवन से बड़ा झूठ और कुछ नहीं है। उसके बाद मुझे हँसी भी आती है—हर आदमी उसी को सत्य माने बैठा है।

लेकिन एक बात मुझे समझ में नहीं आती है—हमने तो शास्त्री जी को खोकर बहुत कुछ खो दिया, लेकिन काल ने उन्हें अपनाकर क्या पाया ? •

संसदीय जीवन के गौरवमय पचास वर्ष

दुनिया के संसदीय इतिहास में संभवतः सेठ गोविन्द दास जी एकमात्र और प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने संसदीय जीवन के पचास वर्ष पूरे किए। पचास वर्षों का दीर्घ जीवन अपने आप में एक ऐसी धरोहर है, जो किसी भी देश, इतिहास और संसदीय कार्य पद्धति के लिए आदर्श है। और वह भी इस बात के गौरव के साथ कि सेठ गोविन्द दास जी ने इन पचास वर्षों के संसदीय जीवन में कभी भी अपना क्षेत्र नहीं बदला और कभी भी नैतिकता का त्याग अपने चुनाव में नहीं किया और लगातार सफलतापूर्वक जबलपुर क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते रहे।

किसी भी आदमी की सफलता के पीछे उसके जीवन की वे रेखाएँ होती हैं, जो अप्रत्यक्ष रूप से समाज और वातावरण को अनुप्रेरित किया करती हैं, सेठ गोविन्द दास जी के व्यक्तित्व के साथ भी यही बात सर्वथा सत्य उतरती है। जीवन की थाती सत्य, निष्ठा, मर्यादा, कर्मठता, आचरण की शुद्धता और आस्थाजन्य राजनीति का त्याग उन्होंने कभी नहीं किया और इसका मूल्य उन्हें इस रूप में मिला कि बड़ी से बड़ी हस्तियाँ जहाँ जनतंत्र के द्वार पर चुनावों में मुँह की खाती रहीं, वहाँ उनके क्षेत्र के मतदाताओं ने बराबर प्रेम, श्रद्धा और अपनापन के साथ उन्हें विजयी बनाया और विजयी सेठ गोविन्द दास जी ने बराबर जनतंत्र की मर्यादा का निर्वाह किया।

'१९२३ में सेठजी पहली बार केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य के रूप में चुने गए थे और उसके बाद वे किसी न किसी रूप में संसदीय जीवन में लगातार रहे। अगर बीच में कभी उन्होंने पदत्याग किया तो कांग्रेस के निर्देश पर। जब वे पहली बार चुनकर आए थे तो उनकी उम्र २७ वर्ष की थी और उस समय वे सदन में सबसे कम उम्र के सदस्य थे। लेकिन उस समय कौन जानता था कि यही सदस्य आगे चल कर सदन के सबसे पुराने सदस्य होंगे और गौरव के साथ उनका पचासवाँ संसदीय वर्ष मनाया जाएगा।

जीवन की चेतना और धरती की करुणा जिसके हृदय में होगी वही सही मानों में जनता का प्रतिनिधित्व कर सकेगा। सेठजी में ये दोनों बातें कूट-कूट कर भरी हुई हैं। वे नाममात्र के राजनीतिज्ञ हैं। कहीं भी उनके शरीर पर कुन्वास नहीं है। उनके शरीर पर भले ही उसके कुछ कम हों, लेकिन उनकी आत्मा में साहित्य-देवता की भक्ति हिलोरें लेती रहती है और उन्हें इस बात से सन्तोष है कि उन्होंने अपने 'साहित्यिक गोविन्द दास' को कभी मरने नहीं दिया।

देश की मूल-चेतना संस्कृति है और इसीलिए शरीर पर वस्त्र हो या न हो, कुटिया या वृक्ष की छाया हो, फुटपाथ या नदी का कोई किनारा हो और वहाँ अस्त-व्यस्त बैठा सन्यासी भी आदर का पात्र होता है, हजारों मस्तक उसके सामने झुकते हैं, कारण देश की सांस्कृतिक चेतना है। सेठ गोविन्द दास जी के जीवन में भी रही सांस्कृतिक चेतना है। वे कभी भी सत्ता में नहीं रहे, कभी उन्होंने किसी प्रकार के शासकीय पद को नहीं संभाला, परन्तु जितना आदर और श्रद्धा उन्होंने अर्जित की वैसी बहुत कम लोगों के नसीब में होती है। इस बात के लिए सेठ गोविन्द दास जी को सन्तोष और हर्ष है कि उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य सांस्कृतिक और साहित्यिक रखा।

स्वयं उनके ही शब्दों में—'पहले कभी-कभी मुझे टीस होती थी, मैंने इतना किया, मुझे क्या मिला ? कुछ नहीं करने वाले अथवा कम करने वाले बहुत कुछ पा गए। तब साहित्यिक गोविन्द दास ने मेरी रक्षा की।'—उनके संसदीय जीवन की अनुभूतियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए मैंने उनसे घण्टों बात की और बड़े ही उन्मुक्त रूप से उन्होंने अपनी बातें मुझे साफ शब्दों में बताईं।

'पदों का स्थान पानी के बुलबुले अथवा सूखी पत्ती के समान है। पदों से हटने के बाद लोग जूतियाँ चटखाते हुए चलते हैं। जनता मुझ पर इतना प्रेम रखती है और किसी भी मुख्य मंत्री और राज्यपाल से कम स्थान नहीं देती—इससे बढ़कर और सन्तोष की बात क्या होगी।'—उन्होंने मुझसे कहा।

सेठ गोविन्द दास जी से जब मैंने यह पूछा कि आपको अपने जीवन में सबसे अधिक प्रभावित किसने किया तो तुरन्त बोले—'दो महान विभूतियों ने—महात्मा गाँधी और मोती लाल नेहरू।' स्वयं उन्होंने इसे स्पष्ट करते हुए कहा—'महात्मा गाँधी राजनीतिक नहीं, सांस्कृतिक व्यक्ति थे। मेरी उसी में निष्ठा थी। अतः उनके दारुण-प्राण सांस्कृतिक रूप ने प्रभावित किया। और मोती लाल जी मेरे पिता जी के खास मित्रों में थे। वे यदा-कदा मेरे यहाँ जबलपुर में आकर रहते भी थे और कहा करते थे कि हमारे दो लड़के हैं—एक जवाहर लाल और दूसरा गोविन्द दास।'

लेकिन यह सही है कि सेठ गोविन्द दास जी को देश अगर सबसे अधिक किसी बात के लिए याद करता है, गौरव देता है और आदर करता है तो वह

हिन्दी के प्रति समर्पित भाव के कारण। हिन्दी के साथ उनका नाम पर्यायवाची हो गया है। वे हिन्दी के हैं तथा हिन्दी उनकी है। यह सम्बन्ध माँ और बेटे के समान स्थापित हो गया है। वे हिन्दी के लिए किसी भी त्याग और बलिदान को कम समझते हैं। इसीलिए जब मैंने यह पूछा कि आपके विगत संसदीय जीवन के ५० वर्षों में सबसे स्मरणीय दिन कौन-सा आया, तो वे बिना एक क्षण भी सोचे बोले—'जिस दिन मैंने लोक-सभा में अपनी संस्था के सचेतक के विरुद्ध हिन्दी के पक्ष में मत दिया।' सेठ जी ने इस सम्बन्ध में दल में जो विवाद उठ खड़ा हुआ था, उसके जवाब में इतना ही कहा था—'हिन्दी का प्रश्न मेरी अन्तरात्मा का प्रश्न है।'

१३ अप्रैल, १९६३ को तत्कालीन गृहमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने भाषा सम्बन्धी एक विधेयक लोक-सभा में उपस्थित किया, जिसमें हिन्दी के साथ अंग्रेजी को अनिश्चित काल तक चलाने की व्यवस्था थी। इस पर सेठ जी को घोर आपत्ति थी। सेठ जी ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित चार घोषणाएँ कीं—

१. मैं इस विधेयक का अन्त तक विरोध करूँगा।
२. इसके विरोध में मतदान करूँगा।
३. इस सम्बन्ध में काँग्रेस दल मुझ पर अनुशासन की कारवाई करेगा तो चूंकि मैं काँग्रेस दल के टिकट पर प्रतिज्ञा-पत्र भरकर लोकसभा में गया हूं और यद्यपि चुना हुआ सदस्य होने के कारण आगामी चुनाव तक चार वर्षों तक लोक-सभा में रह सकता हूं तथापि प्रतिज्ञा-पत्र के कारण अपने नैतिक दायित्व के नाते मैं लोक-सभा से इस्तीफा दे दूंगा।
४. और इतने पर भी जिस काँग्रेस संस्था में मैं पैंतालीस वर्षों से रहा हूं, उसे नहीं छोड़ूंगा और जीवन भर काँग्रेसवादी बना रहूंगा।

लोक-सभा में विधेयक के विरुद्ध सेठ जी ने भाषण भी दिया और मतदान भी दिया। कभी-कभी व्यक्ति और उसके नैतिक सिद्धान्त इतने ऊँचे होते हैं कि नियमों और विधानों से भी उसकी मर्यादा ऊँची हो जाती है। अतः सेठ जी के प्रति किसी प्रकार की अनुशासनात्मक कारवाई नहीं की गई और उस समय के प्रधानमंत्री और काँग्रेस दल के नेता पं० जवाहरलाल नेहरू ने सेठ जी के व्यवहार को सर्वथा उचित समझा।

आज भी संसद् के वरिष्ठतम सदस्य के रूप में सेठ गोविन्द दास जी सर्वाधिक पूज्य सदस्य हैं तथा उनका जीवन सादगी और सौम्य का सम्मिलित रूप है। लोक-सभा की प्रथम बैठक की अध्यक्षता वे ही करते हैं तथा सबों को शपथ-ग्रहण करवाना भी उनका ही दायित्व है। उनकी अध्यक्षता में ही लोक-सभा की प्रथम बैठक होती है और उनकी अध्यक्षता में ही लोक-सभा के अध्यक्ष का भी चुनाव होता है।

सेठ जी को परम सन्तोष है, अपने राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन से। अगले चुनावों में नहीं खड़े होने की उन्होंने घोषणा पहले ही कर दी है और अपने जीवन में पहली बार वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी नहीं हैं। लोक-सभा से जाने के बाद पूर्णतः एक वैष्णव का जीवन वे बिताना चाहते हैं तथा जीवन का शेषकाल साहित्यिक-सांस्कृतिक कामों में अर्पित करना चाहते हैं।

सेठ जी को जीवन में सारी उपलब्धियाँ प्राप्त हुईं। वे वर्षों तक मध्यप्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष रहे, दो बार अ० भा० कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी के सदस्य हुए, अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया और देश की अनेक साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के जनक, संरक्षक, अध्यक्ष एवं संस्थापकों में वे रहे हैं। सारा दुनिया का भ्रमण उन्होंने किया है और अब तक उनकी कुल प्रकाशित पुस्तकों की संख्या १४० के करीब है।

उन्हें इस बात की चिन्ता जरूर सताती रहती है कि हिन्दी को वह स्थान नहीं मिला है जो उसे संविधान द्वारा प्राप्त हुआ है, लेकिन उन्हें यह भी विश्वास है कि हिन्दी को कोई रोक नहीं सकता। भला यह कैसे संभव है कि लगभग २४ करोड़ लोग जिस भाषा का व्यवहार करें, उसका रास्ता प्रशस्त न हो।

डा० गोविन्द दास जी को यह शिकायत भी है कि वर्तमान समय में नैतिकता का इस प्रकार ह्रास हुआ है कि पद और पैसा सब कुछ हो गए हैं। अगर इससे समाज को नहीं बचाया गया तो देश का भविष्य खतरे में है।

लोक-सभा के पिछले चुनाव के बाद लोक-सभा में लगभग ६० प्रतिशत सदस्य ऐसे हैं, जिनकी उम्र सेठ गोविन्द दास जी के संसदीय जीवन से कम है। आज सेठ जी इस दुनिया से आगे ५०वें संसदीय जीवन को पूरा कर एक आदर्श उपस्थित कर रहे हैं और यह गौरव केवल संसद-सदस्य या उनका ही नहीं है, बल्कि पूरे देश का है और इसलिए सेठ जी के इस गौरवमय दीर्घ-सेवा में हम सब अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।●

स्व० फणिश्वरनाथ रेणु

मैला आंचल सहसा लुप्त हो गया

मौत और जिन्दगी के बीच की कहानी किसी हासिये पर लिखे फुटनोट के समान होती है जिसे हर कोई न लिख सकता है, न पढ़ सकता है। आदमी की अनगढ़ तस्वीर भी अनजान और पहचान के बीच का एक ऐसा साया है जिसे पहचानने की क्षमता कम ही रखते हैं।

जबसे यह खबर मिली की रेणु जी नहीं रहे, तभी से मुझे ऐसा लग रहा है मानो वे मेरे सामने आकर खड़े हो गये हैं, मुझसे बात कर रहे हैं, बार-बार मेरे कंधे छू रहे हैं, उन्मुक्त हँसी हँस रहे हैं, अमलतास के समान गुच्छ-गुच्छ लटकते अपने केशों को संभाल रहे हैं, रह-रहकर सिगरेट का कश छोड़ रहे हैं तथा उसकी फुल्लियाँ भी झाड़ रहे हैं और आँखों की कोरों से कहीं ऐसे स्वप्न को निहार रहे हैं जहाँ इनका खोयापन भटक रहा है और मैं रह-रहकर यह प्रयास करता हूं कि उनके स्वर बोधों को पहचानूं और पूंछू कि इन दिनों आप क्या लिख रहे हैं। तभी चेतना वापस आ जाती है और सहसा दिनकर जी की निम्न पंक्तिया सामने आकर खड़ी हो जाती हैं।

"अब नहीं मिलेगी क़हीं नयन,
दर्शन की न व्यर्थ आस करो।"

बापू की जगह रेणु जोड़कर गुनगुनाता हूं

"रेणु सचमुच ही चले गये,
भोली श्रुतिया विश्वास करो"

सब आने वाले जाते हैं—यह प्रकृति का नियम है। लेकिन रेणु जी चले जायेंगे यह विश्वास के परे की बात है। भला इतनी बड़ी मित्र मण्डली, इतना बड़ा पाठक-वर्ग, इतनी बड़ी साँसारिक दुनिया, इतने अधिक अधूरे पन्ने, इतनी-बेतरतीबी, भला कौन सम्भालेगा ?

पटना काफी हाऊस का वह कोना किसकी मुस्कुराहटों से गुनगुनाएगा ? राजेन्द्र नगर का उनका फ्लैट किन पदचापों के लिये कान लगाये प्रतिक्षारत रहेगा ? मैला आंचल, परतीकथा, ठुमरी, जुलूस—सबों के पन्ने फड़फड़ाते रहेंगे,

पर बिन आशाओं की ओट में ?

फणीश्वरनाथ रेणु सच मे एक कालजयी चितेरे कलाकार थे। 'मैला आँचल' के साथ जब उन्होने पहली बार हिन्दी गगन मे प्रवेश किया और मैला आंचल की समीक्षा करते हुये जब (स्व) आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने यह कहा कि रेणु हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचन्द के बाद की खाई को पाटते हैं तो हर किसी की निगाह मैला आंचलकी ओर मुड़ गई। मैला आंचल में आंचालिक सौष्ठव ही नहीं था आंचलिक भाव-बोध भी था। मैला आंचल के प्रकाशन के बाद हिन्दी जगत मे एक तहलका मच गया। किस्सा गोई की एक नई प्रणाली शुरू हो गई। उसके द्वारा और कहानी कहने वाला वास्तव में वही था जिसकी कहानी कही जा रही थी और भाषा का भी व्यवहार ज्यो का त्यो वही।

"बालदेव जी का राह चलना मुश्किल हो गया है। कपड़ा की मेबरी मिली है कि बलाये है। दिशा-मैदान जाते समय भी लोग पीछा नही छोडते हैं। जायहिन्द बालदेव जी ! आये थे तो आपके ही पास। दुलारी का गौना है। अच्छा-अच्छा चलिये हम दिशा में आते हैं। कपड़ा अब कहां है ? रिवरव मे भी नहीं है। सिरिफ कफन और सराध का कपड़ा है·········उसी मे से ? कैसे देंगे ? कफन और सराध का कपड़ा गौना मे।"

इस प्रकार मैला आंचल का कथानक भाषा सौन्दर्य और साधारणीकरण हूबहू सजीव है। रेणु कथा के तत्व को मजबूत बनाते हैं किस्सा गोई के कारण नही वास्तविक चित्रण के कारण।

इसलिये मैला आंचल का जब प्रथम संस्करण निकला तो उसके कवर पृष्ठ पर पंत जी की हस्तलिपि में उनकी कविता की पक्तियां थी—

भारत माता ग्रामवासिनी
खेतों में फैला है श्यामल,
धूलभरा-सा मैला आंचल !

उसी मैला आंचल का चितेरा कलाकार आज सहसा हमसे बिछुड गया जीवन की वास्तविक कहानी अनकही रह जाती है। क्या रेणु ने अपनी सभी साधं पूरी कर ली थी ? क्या सारे अधूरे कार्य पूरे कर लिये ? मैं मानता हू—नही अपनी सुप्रसिद्ध कहानी 'तीसरी कसम' अर्थात् 'मारे गये गुलफाम' जिस पर सफल चलचित्र का निर्माण हुआ है उसका नायक हीरामन तीन कसमे खाता : "कम्पनी की औरत की लदनी······और उसके साथ ही मरे हुये भूहतों की गूँज आवाजें मुखर होना चाहती है, यह सब क्या है ?

रेणु जी की किसी भी पुस्तक को, किसी भी कहानी को, किसी भी रिपोर्ता को अथवा छोटी-बड़ी किसी कहानी को उठा लें। रेणु, अपने आप नजर आते हैं कथा की पकड़, भाषा को वास्तविक व्यवहार के कारण सजीव चि

... उस्ताद है। 'जुलूस' इसके अन्दर झाँक कर देखें तो ... ... बातें ... साहित्यकार जिनने हर जगह कथा के ... और ... के अन्दर फनफनाती उन भावनाओं को आत्मसात ... की है जो औरों की पकड़ से बाहर है।

... दीपा की माँ की ... में दर्द चिनचिना उठा। मुरदा अपने तो चला गया ... दीपा की माँ को जिन्दगी भर के लिये यह दर्द दे गया। अंगभंग आदमी की ... । दीपा के बापू का दाहिना हाथ कट गया था। इसलिये बायें हाथ में ही दोनों हाथों की ताकत आ गयी थी। सो उस बार इस तरह "हथिना सूढ़" की तरह कमर ... लपेट कर ऐंठ दिया कि दीपा की माँ बेहोश हो गयी···तभी से यह दर्द।

······और यह दर्द जब चिनचिना उठता है तो दीपा की माँ सब लाज-लिहाज भूल जाती है और कारे को कोठरी में बुला लेती है—जरा ससार दो, तेल लगाकर। सबसे पहले उसने 'पारस' से ससरवाया था लेकिन पारस की अंगुलियों में जोर ही नहीं। तबसे कारे के ससार से ही इस दर्द का इलाज करवाती है।

······आश्चर्य किसी हट्टे-कट्टे नौजवान से एकान्त में आमने-सामने हुई कि यह दर्द चिनचिनाया। पहलवान जेठ को हर सप्ताह शनिवार की रात में कबूतर खिलाती हैं। इस बीमारी में ऐसी सेवा की दीपा की माँ ने···पहलवान जेठ जिस दिन उस की रीढ़ की हड्डी पर उँगुली देता सप्ताह भर दर्द नहीं होता। फिर ······पहलवान जेठ ने दीपा की माँ के अनुरोध पर वह काम किया जो नहीं करना ... । फिर उसके लिये दीपा की माँ जो कुछ करे थोड़ा है।

... कृतियाँ कृतिकार को शाश्वत बना देती हैं। रेणु जी ऐसे ही साहि- ... रकर भी अमर होने की क्षमता रखते हैं। २५ साल से भी अधिक ... मैं उनसे पहली बार मिला था और आखिरी मुलाकात अस्पताल ... मेरी उनसे पटना काफी हाऊस में हुई थी। मैं आज लेखा-जोखा लेता ... मुलाकात की रेणु, में क्या अन्तर है? आश्चर्य की बात है कि प्रथम ... आखिरी मुलाकात में कहीं कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। सदा वे हँसते, ... हँसते, मस्ती के आलम में किस्सागोई को जीवन में उतारते नजर आते हैं। अब हमारा ... साहित्य जगत् का कर्तव्य है कि रेणु जी के प्रति जो हम श्रद्धांजलि ... वह औपचारिक शब्दों का जाल-मात्र न हो, आँचलिक भाव-भूमि ... भारत के उन लाखों गाँवों की तस्वीर हो जिनके लिये रेणु जीये और ... लिये ही मरे। ●

श्रद्धेय गंगा बाबू

कभी-कभी कठिन होता है, शब्दों की परिधि में किसी को बांधना और उसमें भी कठिन होता है किसी ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में लिखना जिससे अपनापा हो गया हो। श्रद्धेय गंगा बाबू के सम्बन्ध में जब-जब लिखने को सोचता हूं, तब-तब कलम की गति रुक जाती है। क्या लिखूं, कैसे लिखूं, कहाँ से शुरू करूं और कहाँ अन्त पहुंचाऊं।

कह नहीं सकता कि साहित्यकार के रूप में उनकी कोई कृति प्रकाशित भी हुई है—फिर भी हर तबके और हर भाषा का साहित्यकार उन्हें नमन करता है। मुझे नहीं मालूम कि साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में गंगा बाबू के पास कौन सी डिग्री है, लेकिन कोई ऐसी शिक्षण संस्था या साहित्यिक संस्था न होगी जो गंगा बाबू के सहयोग को पाकर अपने को गौरवान्वित न महसूस करे। आयु की सीमा रेखा ७० पार कर गई है, लेकिन कोई भी युवा चाहे वह सामाजिक कार्यों में हो, साहित्य के निर्माण में या राजनीति के ऊहापोह में—एक बार गंगा बाबू के सम्पर्क में आने के बाद अपने को उनसे पृथक नहीं समझेगा।

आज के युग में शालीनता शब्दकोश की वस्तु रह गई है और मर्यादा तो और भी विरल है। लेकिन जो कोई गंगा बाबू को जानते हैं, वे अच्छी तरह से यह बात जानते हैं कि गंगा बाबू को देख लेने के बाद इन दोनों शब्दों को 'डिक्शनरी' में देखने की जरूरत नहीं होती, आपसे आप इनका अर्थ सामने आ जाता है।

नैतिकता का ह्रास जिस गति से हो रहा है तथा जीवन के हर क्षेत्र में अविश्वास जिस प्रकार घर किए हुए है, उसमें अपवाद ढूंढ़ना असम्भव-सा है। लेकिन गंगा बाबू का पूरा व्यक्तित्व इसका अपवाद है और इसीलिए विभिन्न विवादों और चर्चाओं के बीच रहते हुए भी वे अपने व्यक्तित्व की आभा को वैसे ही सुरक्षित रखते हैं, जैसे कमल के पत्ते पंको से अपने को अलग रखते हैं।

श्री गंगा शरण सिंह—यह नाम न तो अपरिचित है किसी साहित्यकार के लिए, न तो अपरिचित है किसी राजनीतिक के लिए, न तो अपरिचित है किसी समाज-सेवी या रचनात्मक कार्यकर्त्ता के लिए। ऐसे नाम का परिचय देना—

उपस्थित करते हैं। छोटा-सा उपन्यास है। 'जुलूस' इसके अन्दर झाँक कर देखें तो सजीव हो जाता है। रेणु का यथार्थवादी साहित्यकार जिसने हर जगह कथा के मर्म को छूने की और व्यक्ति के अन्दर फनफनाती उन भावनाओं को आत्मसात करने की कोशिश की है जो औरों की पकड़ से बाहर है।

"दीपा की माँ की रीढ़ में दर्द चिनचिना उठा। मुरदा अपने तो चला गया लेकिन दीपा की माँ को जिन्दगी भर के लिये यह दर्द दे गया। अंगभंग आदमी की पकड़। दीपा के बाबू का दाहिना हाथ कट गया था। इसलिये बाये हाथ में ही दोनों हाथों की ताकत आ गयी थी। सो उस बार इस तरह "हथिना सूढ़" की तरह कमर में बांह लपेट कर ऐंठ दिया कि दीपा की माँ बेहोश हो गयी···तभी से यह दर्द।

······और यह दर्द जब चिनचिना उठता है तो दीपा की माँ सब लाज-लिहाज भूल जाती है और कारे को कोठरी में बुला लेती है—जरा ससार दो, तेल लगाकर। सबसे पहले उसने 'पारस' से ससरवाया था लेकिन पारस की अंगुलियों में जोर ही नहीं। तबसे कारे के ससार से ही इस दर्द का इलाज करवाती है।

······आश्चर्य किसी हट्टे-कट्टे नौजवान से एकान्त में आमने-सामने हुई कि यह दर्द चिनचिनाया। पहलवान जेठ को हर सप्ताह शनिवार की रात में कबूतर खिलाती हैं। इस बीमारी में ऐसी सेवा की दीपा की माँ ने···पहलवान जेठ जिस दिन उस की रीढ़ की हड्डी पर उँगुली देता सप्ताह भर दर्द नहीं होता। फिर ······पहलवान जेठ ने दीपा की माँ के अनुरोध पर वह काम किया जो नहीं करना चाहिए। फिर उसके लिये दीपा की माँ जो कुछ करे थोड़ा है।

कभी-कभी कृतियां कृतिकार को शाश्वत बना देती हैं। रेणु जी ऐसे ही सा- त्यकार थे जो मरकर भी अमर होने की क्षमता रखते हैं। २५ साल से भी हुये होंगे जब मैं उनसे पहली बार मिला था और आखिरी मुलाकात जाने से पहले मेरी उनसे पटना काफी हाऊस में हुई थी। मैं आज लेख हूं कि पहली मुलाकात की रेणु, में क्या अन्तर है? आश्चर्य की ब और आखिरी मुलाकात में कहीं कोई अन्तर दिखाई नहीं देता हँसते, मस्ती के आलम में किस्सागोई को जीवन में उतारते हमारा और साहित्य जगत् का कर्तव्य है कि रेणु जी के अर्पित करें वह औपचारिक शब्दों का जाल-मात्र न हो में लिपटे भारत के उन लाखों गाँवों की तस्वीर हो उनके लिये ही मरे। ●

विहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के संस्थापकों में गंगा बाबू रहे हैं, लेकिन उसकी आयु का यह सतहत्तरवां साल है—और सम्मेलन का यह ३४ वा अधिवेशन, जब वे अध्यक्षता कर रहे हैं। यह बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सौभाग्य है कि गंगा बाबू के समान अध्यक्ष आज आसीन हुए हैं। हमें विश्वास है गंगा बाबू के निर्देशन मे एक ओर जहाँ सम्मेलन का पूर्णत विकास होगा, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रभाषा हिन्दी को एक नया बल मिलेगा और पूरे देश को इस सम्बन्ध में सम्मेलन एक मार्ग दर्शन देने मे सफल होगा। •

स्वयं को हास्य का अवलम्बन बनाना है।

उन्हें देखकर चाणक्य की वाणी याद आती है—'दुनिया में न कोई दोस्त है, न दुश्मन। तुम्हारा वर्ताव दोस्त-दुश्मन बनाता है।' पता नहीं, गंगाबाबू ने चाणक्य के ये वाक्य पढ़े हैं या नहीं, लेकिन ऐसा लगता है मानो चाणक्य ने उन्हें ही परिलक्षित करके ये वाक्य कहे थे और उन्हें सहज विश्वास था कि मेरे दो हजार साल बाद भी दुनिया में एक ऐसा व्यक्ति होगा।

पुराने आख्यानों से लेकर आधुनिकतम शेर-शायरी, कथा-कहानी, श्लोक-कथा सब उनके होठों पर थिरकते रहते हैं। न तो मेरे पास कभी इतना पैसा हुआ और बौद्धिक कहलाने की इतनी पिपासा हुई कि 'इन्साइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका' ख़रीद सकूँ या पढ़ सकूँ, लेकिन गंगा बाबू पर लिखते समय बार-बार यह इच्छा होती है कि इनकी तुलना उसी महाग्रन्थ से करूं। दुनिया का शायद ही कोई ऐसा विषय हो, जो, 'इन्साइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका' में खोजने पर न मिल जाए, वैसे ही गंगा बाबू हैं—कोई ऐसा विषय नहीं है, जिसकी जानकारी उन्हें न हो।

गाँधी जी ने एक बार कहा था—'योद्धा के लिए संघर्ष ही विजय है, क्योंकि वह उसी में आनन्द प्राप्त करता है।'—गंगा बाबू के शरीर पर खोजने-ढूँढने से भी कहीं वेदना या पलायन या पराजय के कोई चिह्न नहीं मिलेंगे, परन्तु इनका जीवन संघर्षों के साये में पला है। सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक—हर तरह के संघर्ष, लेकिन एक योद्धा के समान उन्होंने उसी में आनन्द प्राप्त किया है।

बड़ी छोटी-सी बात है, लेकिन यह उदाहरण पर्याप्त है गाँधी जी के वाक्य को गंगा बाबू के संदर्भ में जांचने के लिए। एक दिन वे कहीं से दिल्ली आये। पुरानी दिल्ली स्टेशन पर बाहर टैक्सी पकड़ने आये, भीड़-भाड़ गाड़ियों के आने पर स्वाभाविक बात है, कुछ तबीयत भी ठीक नहीं थी, पाँव फिसला और गिर गये। ठीक उसी समय एक टैक्सी इनके पाँवों के ऊपर से पार कर गई। हम लोगों को स्वाभाविक चिन्ता हुई, हड्डी जरूर टूटी होगी। एक्सरे करवाया गया, मोच मात्र था, हड्डियां ज्यों की त्यों सुरक्षित थीं। बहुत हंसे, कहने लगे—'मोटा होने का कितना बड़ा फायदा आज हुआ। पांव दुबले होते तो महीनों अस्पताल में रहना पड़ता। मोटे होने की वजह से माँस को ही थोड़ा कष्ट हुआ। हड्डियां सुरक्षित बच गई।'

कोई-कोई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें बड़ेसे बड़े पद पर बैठा दिया जाये, उनका व्यक्तित्व बड़ा होगा, पद छोटा। आज गंगा बाबू दर्जनों ऐसी संस्थाओं के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, मन्त्री, सदस्य और कर्णधार हैं—जिनकी देश-विदेश में ख्याति है, लेकिन उन सभी संस्थाओं पर उनके व्यक्तित्व की छाप है, किसी संस्था की छाप उनके ऊपर नहीं।

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के संस्थापकों में गंगा बाबू रहे हैं, लेकिन उनकी आयु का यह सतहत्तरवाँ साल है—और सम्मेलन का यह ३४ वाँ अधिवेशन, जब वे अध्यक्षता कर रहे हैं। यह बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सौभाग्य है कि गंगा बाबू के समान अध्यक्ष आज आसीन हुए हैं। हमें विश्वास है गंगा बाबू के निर्देशन में एक ओर जहाँ सम्मेलन का पूर्ण विकास होगा, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रभाषा हिन्दी को एक नया बल मिलेगा और पूरे देश को इस सम्बन्ध में सम्मेलन एक मार्ग दर्शन देने में सफल होगा। ●

डॉ० कर्णसिंह

सोचता हूं कि लिखूं उनके ऊपर—जिन पर लिखना वास्तव में श्रद्धा और समर्पण का भाव-बोध हो सकता है। जो स्वयं प्रतीक हैं निष्ठा, सच्चरित्रता, ज्ञान, जिज्ञासा, चेतना, अभिव्यक्ति और सहज-स्नेह के। जिन्होंने इतिहास को मात्र तिथियां नहीं समर्पित की हैं, वरन् गहरी अनुभूतियाँ भी दी हैं। और जो पंक के बीच रहकर भी कमल के समान उद्‌भाषित होने की कला जानते हैं।

अब भी क्या ऐसे व्यक्ति के नाम लेने की आवश्यकता है?

हज़ारों-लाखों की भीड़ में भी जिसे दूर से ही पहचाना जा सके, बाल, वृद्ध और युवा जिन्हें अपना मानें, जिन्होंने राजनीति को संस्कृति से; संस्कृति को कला से; कला को चेतना से; चेतना को आत्मिक अनुभूतियों से; अनुभूतियों को अखंड विश्वासों से और विश्वासों को अधरों की निश्छल कोमलता से जोड़ा हो—भला उनके बारे में बहुत कुछ लिखने-कहने की गुंजायश ही कहां रह जाती है? सोने का पानी तो तांबे या कांसे या पीतल पर चढ़ाया जाता है, लेकिन सोने पर कुछ और चढ़ाया जाये—इसकी आवश्यकता कहां रहती है?

मेरा आशय डॉ० कर्णसिंह के प्रति है।

डॉ० कर्णसिंह—जिन्हें महाराजा के रूप में मैंने न कभी देखा, न जाना—तब भी नहीं जब वे प्रीवि-पर्स के हकदार थे और तब भी नहीं जब उन्होंने उसे ठुकराया था। उन्हें केन्द्रीय सरकार के एक वरिष्ठ मंत्री के रूप में भी स्वीकारने की मैंने कभी चेष्टा नहीं की। मैंने तो उन्हें जब से देखा है, पाया है प्रथम पुरुष मनु के रूप में, जिसके सम्बन्ध में प्रसाद जी की पंक्तियां हैं :—

> अवयव की दृढ़ मांस-पेशियां,
> ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार;
> स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
> होता था जिनमें संचार।

महाभारत के अद्वितीय दानी, सूरमा और चरित्र कर्ण के रूप में, जिनके न्ध में दिनकर जी ने कहा था—

विक्रमी पुरुष लेकिन, सिर पर
चलता न छत्र पुरखों का घर।
अपना बल-तेज जगाता है,
सम्मान जगत से पाता है।
सब उसे देख ललचाते हैं,
कर विविध यत्न अपनाते हैं।

और काल-चिन्तक योगी अरविन्द के इन शब्दोंमें —

"हर जीवन पदार्थ पर चेतना की विजय का एक चरण है, यह तब तक चलता रहेगा जब तक पदार्थ को अनुशासित करके चेतना उसे पूर्ण आत्मा की अभिव्यक्ति का सीधा साधन और माध्यम नहीं बना देती।"

—(द लाइफ डिवाइन पृ० १६४)

और यदि मेरा विश्वास क्षीण-धरातल का शाब्दिक रूप मात्र नहीं है, तो मैं यह मानता हूं कि डॉ० कर्णसिंह को देश कभी महाराजा या मंत्री या 'डाक्टर' से परे एक सर्जक, सृष्टा, युगबोधक, नायक, चरित्र, वक्ता, पारखी, इतिहास-पुरुष या साधक के रूप में ही लेता है और यही कारण है कि किसी विश्वविद्यालय का दीक्षांत समारोह हो तो उसके छात्रों से लेकर उप-कुलपति तक की यही लालसा होगी कि डॉ० कर्णसिंह दीक्षांत भाषण दें, किसी चित्रकार के चित्रों की प्रदर्शनी होगी तो उसकी यही चाह होगी कि डाक्टर साहब उसके उद्घाटक हों, किसी शास्त्रीय-गायन के विशिष्ट कलाकार का गायन या किसी का नृत्य हो तो वहां के आयोजकों से लेकर कलाकार तक की एक ही लालसा होगी कि डाक्टर साहब उसमें मुख्य अतिथि हों, कोई बड़े से बड़ा साहित्यिक-सांस्कृतिक या आध्यात्मिक समारोह हो तो लोगों की जिज्ञासा रहेगी कि डाक्टर साहिब उद्घाटन करें या अध्यक्षता करें या मुख्य-अतिथि बनें।

और डॉ० कर्णसिंह के जीवन का यह गुण, विद्वता का दिग्दर्शन, आभा का विस्तार, मर्यादा का संतरण और भारतीयता का बोध उन्हें औरों से भिन्न करता है। एक ओर जहां उनमें किसी विद्यार्थी के समान शोध की जिज्ञासा है, वहीं दूसरी ओर उनकी वाणी में किसी विद्वान सी दृढ़ता। वे केवल शब्दों तक ही अपने को सीमित नहीं रखते हैं, वरन भावों की तह में किसी अन्तः सलिला नदी के समान प्रवाह को वेगवती बनाने का प्रयास भी करते हैं।

बचपन में एक संस्कृत का श्लोक कानों में आकर मन में बस गया था—

'विद्वत्वं च, नृपत्वं च, नेवम् तुल्यम् कदाचन्।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वानं सर्वत्र पूज्यते॥'

डॉ० कर्णसिंह को शायद ही कभी यह शौक रहा हो कि वे महाराजा कहलायें और उस पाग के मोर-मुकुट बनें, लेकिन उनकी सतत यह लालसा जरूर रही है

अक्षय जी : एक सहज व्यक्तित्व

कभी-कभी कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनके ऊपर लिखना कठिन भी होता है और आसान भी। कठिन इसलिए कि व्यक्तित्व को लिखावट इस भांति बिखरी होती है कि उन्हें एक साथ समेट कर व्यक्तित्व को मात्रा सूचना मुश्किल होता है और आसान इसलिए कि व्यक्तित्व इतना सरल होता है कि उसके ऊपर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता।

अक्षय जी के सम्बन्ध में उपरोक्त बातें बिल्कुल सही उतरती हैं।

दिल्ली आने का जो सबसे बड़ा लाभ मुझे मिला वह यह कि कई महान साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों एवं विभूतियों के सम्पर्क में आ सका। अक्षय जी इन महान विभूतियों के एक ऐसे स्तम्भ हैं जिनमें साहित्य की आस्था, पत्रकार का दूरदर्शिता, कलाकार की जिज्ञासा और किसी संत या महात्मा का विवेक एक साथ आ मिला है। ज्यों-ज्यों मैं उनके नजदीक आता हूँ लगता है जैसे उनके व्यक्तित्व की अनेक गिरहें स्पष्ट से स्पष्टतर होती चली जा रही है।

वही व्यक्ति महान कहा जा सकता है जिसमें बालक के समान सरलता हो, सद्गृहस्थ के समान विवेक हो, राजनीतिज्ञ के समान वाक्-चातुरी हो, गोताखोर के समान अन्तर्दृष्टि हो, नाविक के समान साहस हो और किसी खिलाड़ी के समान हार-जीत में सम-भाव रहने की क्षमता हो। जो लोग अक्षय जी को नजदीक से जानते हैं वे मेरे इस अध्ययन की दाद देंगे कि अक्षय जी में एक सफल व्यक्ति के ये सारे गुण एक साथ संगम बन कर उभरते हैं।

बहुत इच्छा होती है कि अक्षय जी के साथ रह कर कुछ काम कर सकूं। यह इच्छा इसलिये होती है कि उनके साथ में एक दुर्लभ आनन्द प्राप्त होता है जो हर किसी के साथ काम करने में नहीं हो पाता। हम लोग साथ-साथ 'समाचार भारती' के निदेशक मण्डल के सदस्य हैं और वर्तमान समय में अक्षय जी के अतिरिक्त सर्वश्री डा० लक्ष्मीमल सिंघवी, प्रकाशवीर शास्त्री, धर्मवीर गांधी और मैं, बस इतने ही सदस्य हैं। कई गुत्थियां सामने आती हैं जिनका हमें उत्तर नहीं मिल पाता तो सहज रूप से हम सभी अक्षय जी की ओर निहारते हैं और

नज़ीर साहव

तीन-चार वर्ष पहले की बात है, तुलसी जयन्ती के अवसर पर राष्ट्रपति-भवन में एक समारोह का आयोजन हुआ। नज़ीर साहव विशेष तौर से गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में कवितापाठ के लिए बुलाये गए। समारोह सादा, आकर्षक गरिमामय था। तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि जी उसकी शोभा वढ़ा रहे थे और मानस-चतुःशती के अवसर पर इसका विशेष महत्व भी था। नज़ीर साहव ने जो कविता प्रस्तुत की थी, उसके दो छन्द अब भी रह-रह कर गुदगुदी पैदा कर रहे हैं—

तुलसी पे लिखने का जब आया ख्याल।
कुछ देर ख्यालों को पसीना आया॥
तुलसी पे लिखा, तो यहां तक पहुंचा।
श्री राम पे लिख दूं तो कहां तक पहुंचूं॥

इतने सहज और सटीक रूप से कही गई ये पंक्तियां हर आदमी के दिल में वस गईं।

□ □ □

'कामता-सेवा-केन्द्र' के उद्‌घाटन अवसर पर तत्कालीन भारत सरकार के कृषि मंत्री और माननीय नेता श्री जगजीवन राम जी पधारे। नज़ीर साहव को इस अवसर के लिए विशेष रूप से आमंत्रित किया गया। मंच पर जव वे गये, सबसे पहला छन्द वावू जी के सम्वन्ध में ही कहा—

इस उम्र में भी तावो तवां रखते हैं,
वूढ़े हैं मगर खून जवां रखते हैं।
इस दौर के अंगद हैं कि जगजीवनराम,
हिलता ही नहीं पांव जहां रखते हैं॥

जिस महफिल में, जिस मुशायरे में या कवि सम्मेलन में नज़ीर साहव होते हैं, उसका अंदाज ही कुछ और होता है। हाजिर जवावी और श्रोताओं के सिर पर सवार होकर वोलने का उनका अंदाज है। पटना में एक वार 'कविता संगम' द्वारा

आयोजित एक समारोह में फिराक साहब को तथा नज़ीर साहब को एक साथ बुलाया गया। समारोह का समय जब आ गया, तो होटल में दोनों महानुभावों को लेने के लिए मैं स्वयं गया। फिराक साहब और नज़ीर साहब दोनों 'मूड' में थे। मैंने अर्ज किया, "आप दोनों की इंतजारी हो रही है।" फिराक साहब ने उत्तर दिया, "यार चलता हूं, थोड़ा और मूड बना लेने दो।" और उसके बाद उन्होंने नज़ीर साहब की ओर मुखातिब होकर कहा, "नज़ीर, तुम्हें पता है, मैं परले सिरे का हरामजादा हूं।"

दूसरी ओर नज़ीर साहब ने कसके हामी भरी,

"भला हजूर अपने बारे में गलत बयान थोड़े करेंगे।"

माहौल ऐसा हुआ कि हम लोग हंसते-हंसते दोहरे हो गये।

□ □ □

पाकिस्तान के ऊपर भारत की विजय के बाद दिल्ली में एक बहुत बड़ा कवि-सम्मेलन और मुशायरा हुआ। नज़ीर साहब विशेष तौर से बुलाये गये। उस समारोह में तत्कालीन प्रधानमन्त्री स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री जी भी उपस्थित थे। नीरज जी जैसे किसी लम्बे कवि के बाद नज़ीर साहब की बारी आई। जाहिर था, माइक को काफी नीचे झुकाने की नौबत आ गई और नज़ीर साहब के ठिगने और गठे कद को देखकर जनता में स्मित हास्य बिखर गया। नज़ीर साहब भला कैसे चूकते! छूटते ही कहा,

"मेरे कद पे न हंसो ऐ दुनियावालो! यह कद वही है जिसकी लाल बहादुर ने लाज रखी।"

संसद-सदस्य के रूप में, घमासान लड़ाई के बाद जब मेरी विजय हुई, तो सैंकड़ों चिट्ठियां, तार और बधाई के संदेश मिले, लेकिन उन बधाइयों में एक याद ऐसी है, जिसे कभी भुला नहीं सकता।

> गंगा की हर तरंग ने
> यों देखभाल की।
> कि शंकर ने रख ली आबरू
> शंकरदयाल की॥

यह तार था नज़ीर साहब का।

नज़ीर साहब को देखता हूं, तो बरबस कबीर की याद आ जाती है—कबीर, जो इतिहास के ऐसे पुरुष थे, एक ऐसे सन्त थे, एक ऐसे द्रष्टा थे और एक ऐसे मनीषी थे, जिनके बारे में यह कहना बिल्कुल कठिन है कि वे हिन्दू थे कि मुसलमान थे। सच्चे मानें में वे एक फकीर थे। और, मेरी बातों में अगर कोई अतियुक्ति न समझी जाये, तो मैं मानता हूं कि जिस काशी में कभी कबीर पैदा हुए थे, ठीक उनका ही व्यक्तित्व लेकर आज नज़ीर हमारे सामने हैं। कहा

मुस्कुराते हुए वे हर समस्या का समाधान इतनी सरलता से पेश कर देते हैं कि बड़ी-से-बड़ी गुत्थी भी सुलझ जाती है। यह सब किसी के बल-बूते की बात नहीं होती। इसके लिए विस्तृत अनुभव और गहरे आस्थामय व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। सबसे बड़े हिन्दी पत्र 'नवभारत टाइम्स' के प्रधान सम्पादक के रूप में अक्षय जी ने लाखों लोगों के दिल में अपना स्थान बना लिया है और लोग नियमित रूप से 'नवभारत टाइम्स' पढ़ते हैं। उनका कहना है कि जैसे उनके लिए सवेरे की चाय तथा नित्य क्रियायें आवश्यक हैं वैसे ही 'नवभारत टाम्इस' का संपादकीय पढ़ना भी अत्यावश्यक है। जिस सरल, सुबोध और हृदय को छू जाने वाली भाषा में अक्षय जी अपना सम्पादकीय लिखते हैं उसमें एक ओर जहाँ वर्तमान का चिंतन छिपा होता है वहीं दूसरी ओर अतीत की स्मृतियां और भविष्य के बोध भी मिले होते हैं। इसका कारण यह है कि अक्षय जी केवल साहित्यकार और पत्रकार नहीं हैं बल्कि सामाजिक, शैक्षणिक और राजनीतिक जीवन के भी कई उतार और चढ़ाव उन्होंने देखे हैं जो हर किसी को उपलब्ध नहीं है।

राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका सक्रिय योगदान रहा है और जहां तक मेरी जानकारी है आज से ३० और ४० साल पहले जब बहुत से ख्याति प्राप्त लोगों का आविर्भाव भी नहीं हुआ था अक्षय जी अलीगढ़ में कांग्रेस के प्रमुख थे।

महान वही कहा जा सकता है जिसमें युग का दर्द हो और अभावजनित पीड़ा का मार्मिक स्पर्श। समाज के हर तबके को अक्षय जी ने खुली नजरों से देखा है। यह बोध उनकी लेखनी से उद्भूत विचारों से पढ़ कर होता है। इसके साथ ही जो सबसे बड़ी खूबी मैं उनमें पाता हूँ वह है विश्वास का आदान-प्रदान। वे विश्वास पाते भी हैं और विश्वास करते भी हैं। राष्ट्रपति से लेकर प्रधानमंत्री तक और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश से लेकर अपने प्रेस के प्रूफ रीडर तक उनका व्यवहार इतना निश्छल और आत्मीय होता है कि अक्षय जी एक ओर जहाँ हर किसी के नज़दीक पहुँच जाते हैं वहीं हर किसी को अपने नज़दीक ले आते हैं। यह सौभाग्य है हिन्दी जगत का और हिन्दी पत्रकारिता का कि एक मूक तपस्वी के समान अक्षय जी विगत ४० वर्षों से हिन्दी साहित्य पत्रकारिता की सेवा करते आ रहे हैं। राजधानी में उनके व्यक्तित्व का एक सहज आदर है। राष्ट्रपति भवन से लेकर किसी झुग्गी-झोंपड़ी तक एक समान उनकी प्रतिष्ठा है और इसका मुख्य कारण अक्षय जी के व्यक्तित्व की सरलता और सहजता है।

मैं कभी-कभी सोचा करता हूँ कि दिल्ली आकर और एक संसद् सदस्य के रूप में जीवन बिता कर यदि मैं,अपने व्यक्तित्व की इति समझता तो यह मेरी अधोगति होती। अतः सौभाग्य है मेरा कि मैं दिल्ली आने पर यहां के सामाजिक, साहित्यिक और कलात्मक परिवेश में भी महान् विभूतियों के सम्पर्क में आ

गया। इसमें अक्षय जी का स्थान मेरे लिए प्रथम पंक्ति में है। मेरे और उनके बीच आयु की लम्बी सीमा रेखा है फिर भी एक मित्र के समान जो स्नेह वे उली-चे हैं उसके बारे में लिखना या कहना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

समाज की संरचना में उन्हीं लोगों का वास्तविक योगदान होता है जो समाज के रथ-चक्र को अपने सीने पर चलाने की क्षमता रखते हैं। अक्षय जी के व्यक्तित्व में यह गुण दुर्लभ रूप में विद्यमान है।

राष्ट्रकवि दिनकर ने 'हिमालय का संदेश' नामक कविता में कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं—

> धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो।
> शील मुकुट नरता का, सबसे बड़ी भव्यता का है।
> नहीं धर्म से बढ़कर कोई मित्र सभ्यता का है।
> निरी बुद्धि के लिए भावना का मत दमन करो रे।
> जो अदृश्य प्रहरी है, उससे भी तो कभी डरो रे।
> शान्ति चाहते हो, तो पहले सुमति पुन्ज से माँगो,
> नवयुग के शिशुओ ! ऊर्ध्वमुख जागो, जागो, जागो।
> धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो।'

जब-जब मैं इन्हें पढ़ता हूँ तो लगता है मानो इन पंक्तियों को लिखते समय महान कवि के सामने अक्षय जी का चित्र था।

और इसके साथ ही राष्ट्रपिता गांधी जी की एक उक्ति याद आती है—

> 'जो जमीन पर बैठता है, उसे कौन नीचे बिठा सकता है,
> जो सब का दास बनता है उसे कौन दास बना सकता है?'

सोचता हूँ अक्षय जी का व्यक्तित्व गांधी जी के कहे इस वाक्य के फ्रेम में अच्छी तरह से मढ़ा जा सकता है। •

नज़ीर साहब

तीन-चार वर्ष पहले की बात है, तुलसी जयन्ती के अवसर पर राष्ट्रपति-भवन में एक समारोह का आयोजन हुआ। नज़ीर साहब विशेष तौर से गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में कवितापाठ के लिए बुलाये गए। समारोह सादा, आकर्षक गरिमामय था। तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि जी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे और मानस-चतुःशति के अवसर पर इसका विशेष महत्व भी था। नज़ीर साहब ने जो कविता प्रस्तुत की थी, उसके दो छन्द अब भी रह-रह कर गुदगुदी पैदा कर रहे हैं—

तुलसी पे लिखने का जब आया ख्याल।
कुछ देर ख्यालों को पसीना आया॥
तुलसी पे लिखा, तो यहां तक पहुंचा।
श्री राम पे लिख दूं तो कहां तक पहुंचूं॥

इतने सहज और सटीक रूप से कही गई ये पंक्तियां हर आदमी के दिल में बस गईं।

□ □ □

'कामता-सेवा-केन्द्र' के उद्घाटन अवसर पर तत्कालीन भारत सरकार के कृषि मंत्री और माननीय नेता श्री जगजीवन राम जी पधारे। नजीर साहब को इस अवसर के लिए विशेष रूप से आमंत्रित किया गया। मंच पर जब वे गये, सबसे पहला छन्द बाबू जी के सम्बन्ध में ही कहा—

इस उम्र में भी तावो तवां रखते हैं,
बूढ़े हैं मगर खून जवां रखते हैं।
इस दौर के अंगद हैं कि जगजीवनराम,
हिलता ही नहीं पांव जहां रखते हैं॥

जिस महफिल में, जिस मुशायरे में या कवि सम्मेलन में नज़ीर साहब होते हैं, उसका अंदाज ही कुछ और होता है। हाजिर जवाबी और श्रोताओं के सिर पर सवार होकर बोलने का उनका अंदाज है। पटना में एक बार 'कविता संगम' द्वारा

आयोजित एक समारोह मे फिराक साहब को तथा नजीर साहब को एक साथ बुलाया गया। समारोह का समय जब आ गया, तो होटल मे दोनो महानुभावो को लेने के लिए मैं स्वयं गया। फिराक साहब और नज़ीर साहब दोनों 'मूड' मे थे। मैंने अर्ज किया, "आप दोनों की इंतजारी हो रही है।" फिराक साहब ने उत्तर दिया, "यार चलता हूं, थोडा और मूड बना लेने दो।" और उसके बाद उन्होने नज़ीर साहब की ओर मुखातिब होकर कहा, "नजीर, तुम्हे पता है, मैं परले सिरे का हरामजादा हूं।"

दूसरी ओर नज़ीर साहब ने कसके हामी भरी,

"भला हजूर अपने बारे में गलत बयान थोड़े करेंगे !"

माहौल ऐसा हुआ कि हम लोग हंसते-हसते दोहरे हो गये।

☐ ☐ ☐

पाकिस्तान के ऊपर भारत की विजय के बाद दिल्ली मे एक बहुत बड़ा कवि-सम्मेलन और मुशायरा हुआ। नज़ीर साहब विशेष तौर से बुलाये गये। उस समारोह मे तत्कालीन प्रधानमन्त्री स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री जी भी उपस्थित थे। नीरज जी जैसे किसी लम्बे कवि के बाद नजीर साहब की बारी आई। जाहिर था, माइक को काफी नीचे झुकाने की नौबत आ गई और नजीर साहब के ठिगने और गठे कद को देखकर जनता मे स्मित हास्य बिखर गया। नज़ीर साहब भला कैसे चूकते ! छूटते ही कहा,

"मेरे कद पे न हसो ऐ दुनियावालो ! यह कद वही है जिसकी लाल बहादुर ने लाज रखी।"

संसद-सदस्य के रूप में, घमासान लडाई के बाद जब मेरी विजय हुई, तो सैकडों चिट्ठियां, तार और बधाई के सदेश मिले, लेकिन उन बधाइयो मे एक याद ऐसी है, जिसे कभी भुला नही सकता।

> गगा की हर तरंग ने
> यों देखभाल की।
> कि शंकर ने रख ली आबरू
> शंकरदयाल की ।।

यह तार था नज़ीर साहब का।

नज़ीर साहब को देखता हूं, तो बरबस कबीर की याद आ जाती है—कबीर, जो इतिहास के ऐसे पुरुष थे, एक ऐसे सन्त थे, एक ऐसे द्रष्टा थे और एक ऐसे मनीषी थे, जिनके बारे मे यह कहना बिलकुल कठिन है कि वे हिन्दू थे कि मुसलमान थे। सच्चे माने मे वे एक फकीर थे। और, मेरी बातों मे अगर कोई अतियुक्ति न समझी जाये, तो मैं मानता हूं कि जिस काशी मे कभी कबीर पैदा हुए थे, ठीक उनका ही व्यक्तित्व लेकर आज नज़ीर हमारे सामने हैं। वहा

मेरी दी : सुमित्रा कुलकर्णी

रह-रह कर मटमैले साँझ के बाद आई वह स्याह रात, दूधिया बल्बों की रोशनी में मेरी आँखों में चमक पैदा कर देती है। स्मृति ताल भी है और बेताल भी, सूर्यमुखी का फूल भी तथा किसी हनुमान-मन्दिर की आरती-कुंकुम भी, इसलिए वह शाम अथवा वह रात हर-हमेशा मेरे सामने किसी गोरैया के समान फुदक उठती है।

एक बड़ी पार्टी चल रही थी—'डिनर'। मेजबान काफी होशियार थे, इसलिए उन्होंने आमंत्रितों में शायद ही किसी को छोड़ा हो—श्री उमाशंकर दीक्षित जिसके जिम्मे गृह मंत्रालय अभी-अभी आया था, श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा, जो अभी-अभी उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री मनोनीत हुए थे, श्री केदार पाण्डेय जो बिहार के मुख्यमंत्री चुने गये थे, सविता बहन, जो पहली बार राज्य सभा की सदस्या चुनी गई थीं; मैं जो अभी हाल में ही ३५ वर्षों की आयु में कांग्रेस की केन्द्रीय चुनाव समिति का सदस्य चुना गया था, श्री ललित नारायण मिश्र जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से शासन और सत्ता के केन्द्र बिन्दु बनने जा रहे थे, श्री यशपाल कपूर जो उस समय सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति माने जाते थे और इनके साथ ही अनेक मंत्री, संसद सदस्य और राज्यों के नेता भी उस 'डिनर' में सम्मिलित थे। लेकिन सबसे अलग मेरी नजर कहीं और जाकर टिक गई—खादी की सफेद साड़ी, गेहुँआ-गोरा रंग, हंसता-मुस्कुराता चेहरा, गम्भीरता के मत्थे पर लिपटी अनायास-सी चंचलता, सबकी केन्द्र बिन्दु, बातों में बेलौस अनौपचारिकता, शरद की किसी कहानी की मर्यादित नारी-चरित्र की दर्शित आभा, शालीन नाक-नक्श, बोल में बिन तोले शब्दों की ध्वनि, चश्मे के अन्दर से झांकती छोटी-छोटी आँखें और मैं इस आकृति को न देखकर भी बहुत कुछ देख गया, लेकिन अपरिचित षट्कोण जिज्ञासा का दूत होता है, इसीलिए अपने मेजबान से मैं पूछे बिना नहीं रह सका—ये कौन हैं ?

—अरे, नहीं जानते, यही है न श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी, गाँधी जी की पोती, जो कलक्टरी से इस्तीफा देकर इस बार राज्य सभा में आई हैं। आइए,

चलिए मैं आपका उनसे परिचय कराता हूँ।

लेकिन मैं भीड़ में कहीं खो गया, अपना अपरिचित अस्तित्व कायम रखने के लिए। मेजबान ने भी मुझे फिर नहीं ढूंढ़ा। वे अपनी ही चालाकी में मशगूल थे, हर किसी 'वी० आई० पी०' को धीरे से यही कह रहे थे कि यह 'पार्टी' आप ही के आदर में दी गई है।

मैं बहुत जल्द उस 'पार्टी' से खिसक गया और पैदल करीब डेढ़ मील चलकर अपने आवास पहुँचा। मन में कहीं कुछ मथ रहा था, गांधी जी बराबर सत्ता से अलग रहे, जबकि उनके समकालीन विश्व के हर नेता ने अपने राजनीतिक त्याग का मूल्य सत्ता में जाकर लिया, उसी गांधी परिवार का पहला सदस्य, पहली बार किसी राजनीतिक व्यवस्था में आया हुआ था।

क्या यह ठीक हुआ ?

क्या यह गलत हुआ ?

बहुत देर तक मैं उस रात सोचता रहा था, बिना किसी संदर्भ के और बिना किसी मानी-मतलब के।

जीवन में पहली बार गांधी-परिवार के किसी सदस्य को मैंने तस्वीरों से अलग प्रत्यक्ष रूप में देखा था। मेरी दृष्टि सर्वथा औरों से भिन्न थी क्योंकि गांधी मेरे प्रतिपाद्य थे, गांधीवाद मेरे जीवन का सह-अस्तित्व था और गाँधी नाम मेरे लिए ईश्वर का ही एक रूप था। यह बात सन् १९७२ के अप्रैल या मई की है।

□ □ □

'इनसे आपका परिचय है ?'—पहली घटना के दो-चार दिनों बाद की बात है, जब लोक सभा की लाबी में श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने मुझे टोका।

—'नहीं तो······।' मैं कुछ कतराने की मुद्रा में संकोच के साथ बोला।

—'राज्य सभा की नई सदस्या श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी हैं। गांधी जी की······' विश्वनाथ बोल ही रहे थे कि उन्होंने उसी सहज मुस्कुराहट से उनकी बात बीच में ही काट दी।

—'अब रहने भी दो पूरे खानदान का विवरण।' कहते हुए उन्होंने नमस्कार की मुद्रा में मेरी ओर आँखें मोड़ दीं।

—'और ये हैं शंकरदयाल सिंह, बिहार से लोकसभा के बड़े प्रखर सदस्य।' विश्वनाथ जी ने अधूरी बात इस प्रकार पूरी की और कहीं जाने की जल्दी में वे दोनों को छोड़कर चले गये।

इनके बाद मेरे उनके बीच कुछ औपचारिक खानापूर्ति के समान दो-चार मिनटों तक बातें हुईं और अन्त में मैंने पूछा—

—'आप कहाँ रहती हैं, मैं मिलने आऊँगा घर पर, जब कभी आपको सुविधा

—हाँ, हाँ जरूर आओ, जब तुम्हें फुर्सत हो। मुझे तो फुर्सत ही फुर्सत है। आना ही है तो ऐसा करो कि परसों १ बजे आओ खाने पर।'

अनौपचारिक 'तुम' और खाने का निमंत्रण देती हुई वह सेन्ट्रल हाल की ओर चली गई और मैं लोक-सभा में।

तीसरा प्रतीक्षित दिन आया और मैं ठीक १ बजे ७, पुराना किला रोड, नई दिल्ली पहुँचा। खाना तो औपचारिक माध्यम था, लेकिन मैं बाजाप्ता निमंत्रित मेहमान था, लेकिन वहाँ जाने के पहले ही मैंने सोच लिया था कि उन्होंने बुला तो लिया है लेकिन वह जरूर भूल गई होंगी। अतः चलते समय ही मैंने एक स्लिप लिखकर अपने साथ ले लिया था, जिसे सोचा था कि उनके घर रख कर वापस लौट आऊँगा। पुर्जे पर मैंने लिखा था—'श्रद्धेय दीदी, आपने आज बुलाया था, इसलिए ठीक समय पर आ गया, लेकिन जानता था कि आप भूल गई होंगी, अतः आपकी अनुपस्थिति को ही प्रणाम कर वापस लौट रहा हूँ।'

एक हाथ में पुर्जा दबाये, दूसरे हाथ से 'कालिंग-बेल' दबाया और ससंकोच बगल में 'नहीं हैं' सुनने के लिए खड़ा हो गया कि तभी दरवाजा खोल कर सामने खड़ी थीं—'चलें आओ अन्दर।'

और मैं इधर सारी औपचारिकता को ताक पर रखकर ठहाका मार कर हँस रहा था। तब तक मेरी नजर शांत-स्निग्ध सफेद खादी की साड़ी में लिपटी जिन वृद्धा पर पड़ी, उनसे बिना परिचय हुए भी मैं समझ गया कि यह माँ हैं और मैंने उन्हें झुक कर प्रणाम किया।

—'बा, यह हैं शंकर, बिहार से लोक सभा के एम०पी०।' उन्होंने बा से कहा तथा मेरी ओर घूम कर बोलीं—

—'आप इतना हँस क्यों रहे थे?'

मैंने उत्तर में अपने हाथ का पुर्जा उनकी ओर बढ़ा दिया और वह भी पढ़कर हँसे बिना नहीं रह सकीं।

और बस इन्हीं दो मुलाकातों ने हम दोनों को इस प्रकार अपना बना दिया कि मात्र संबोधन में ही नहीं, वास्तव में वह मेरी दीदी हो गईं और मैं उनका भाई और ज्यों-ज्यों दिन आगे की ओर सरकते गये दीदी मेरे लिए केवल 'दी' हो गईं और मैं उनके परिवार का एक अभिन्न सदस्य।

□ □ □

श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी—यह नाम अब बिलकुल अपरिचित नहीं रह गया है। सामाजिक-राजनीतिक और शैक्षणिक एवं लेखकीय ढाँचे में इस नाम की अपनी मर्यादा है, फिर भी आवश्यक है कि सुमित्रा दी का पूर्ण परिचय प्रस्तुत किया जाये।

५ अक्तूबर, १९२९ को जन्मी सुमित्रा कुलकर्णी गांधी जी के तृतीय पुत्र श्री

इस सम्बन्ध में जब मैंने एक बार दीदी से चर्चा छेड़ी तो वह बोलीं—'मैंने जब मैट्रिक की पढ़ाई समाप्त की तभी बापू ने मुझसे कहा कि तू मेरी सेक्रेटरी हो जा और तुझे ऐसी ट्रेनिंग दूंगा कि तू महादेव की तरह काम करने लगेगी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मैं जब इण्टर की छात्रा थी उसी समय बापू शहीद हुए अतः बापू जी की तथा मेरी यह इच्छा अपूर्ण ही रह गई। बाद मे मैं सचिव पद पर जरूर रही, लेकिन बार-बार मेरे मन में यह विचार आता रहा कि अन्य महत्वपूर्ण पदों पर जाकर अपनी योग्यता सिद्ध करूं। मेरे पहले गांधी परिवार का कोई भी सदस्य सरकारी सेवा में नहीं गया था।'

उसके बाद जीवन का क्रम बदला और सुमित्रा बहन सरकारी सेवा में शामिल हो गईं, जहाँ उन्होंने १७ वर्षों तक विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर काम किया—मध्य-प्रदेश विद्युत बोर्ड में अधिकारी; १९५२-५३, डिप्टी कलक्टर; म० प्र० १९५४, सब डिवीजनल मजिस्ट्रेट नागपुर १९५४-५६, ट्रेजरी आफिसर बेतूल, म०प्र०; सब डिवीजनल आफिसर, छिंदवाड़ा म०प्र०; सिटी मजिस्ट्रेट, जबलपुर तथा कलक्टर तथा डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट रायसैन, म० प्र०।

इनके अतिरिक्त श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी भारत सरकार के वित्त मंत्रालय चिव; तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग में वित्तीय सलाहकार; इण्डियन र्टेलाइजर कोआपरेटिव लि०, गुजरात की विशेष प्रतिनिधि जैसे महत्व

पूर्ण पदों पर भी रहीं।

अप्रैल, १९७२ में जब सुमित्रा कुलकर्णी राज्य सभा में आईं, उस समय वह भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई० ए० एस०) में थीं, लेकिन अप्रैल, १९७२ से अप्रैल, १९७८ तक राज्य सभा सदस्या के रूप में सुमित्रा बहन ने देश तथा विदेशों में जो छाप छोड़ी उसका भी अपना महत्व है। १९७५ में अंतर्राष्ट्रीय बौद्ध संस्थान के निमंत्रण पर सुमित्रा दी जापान गईं और वहाँ पूज्य फूजी गुरुजी के सामिप्य में रहीं; १९७७ में भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् द्वारा फिजी में जो प्रतिनिधि मण्डल गया उसका नेतृत्व किया और फिजी में रहने वाले प्रवासियों पर गहरी छाप छोड़ी तथा १९७७-७८ में यू० एन० ओ० (संयुक्त राष्ट्र संघ) में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल की एक महत्वपूर्ण सदस्या रहीं। यूनाइटेड नेशन्स में मानव-अधिकारों के ऊपर जो महत्वपूर्ण भाषण श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी ने दिये उसकी विश्वभर में अनुगूंज रही।

सबसे बड़ी जीवन की उपलब्धि है पारिवारिक सुख। सुमित्रा बहन को पारिवारिक सुख-संतोष भगवान ने अपने हाथों दिया है। २६ जनवरी, १९६२ में इनकी शादी श्री गजानन रघुनाथ कुलकर्णी जी के साथ हुई जो उस समय भारतीय प्रशासनिक सेवा में एक महत्वपूर्ण पद पर थे और आज वहाँ से त्याग पत्र देकर वे इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ मनेजमेण्ट, अहमदाबाद में 'सिनियर प्रोफेसर' हैं। देश के प्रमुख अर्थशास्त्रियों में प्रो० कुलकर्णी की आज गणना होती है तथा विद्वता, नम्रता, व्यावहारिकता और शिष्टता इनके व्यक्तित्व का मणि-कांचन योग है। यह शादी तत्कालीन वित्त मंत्री श्री मोरारजी भाई देसाई के निवास पर हुई थी।

सुमित्रा दी के तीन बच्चे हैं—राम, कृष्ण तथा सोनाली। राम और कृष्ण जुड़वा बच्चे हैं और तीनों बच्चों के संस्कारों में पिता-माता का संस्कार कूट-कूट कर भरा है। सुमित्रा दी में मातृत्व-वत्सलता अंतिम छोर पर है। उनके लिए १२ और १४ साल के बच्चे भी अबोध शिशु के समान हैं। वे एक ऐसी माँ हैं जो बचपन के समान अपने बच्चे को गोद रखने में ही सुख पाती हैं।

माँ—श्रीमती निर्मला गाँधी सेवा ग्राम में रहती हैं, भाई कनुगांधी अमेरिका में इंजीनियर हैं तथा छोटी बहन श्रीमती उषा-गोकानी बम्बई में सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों में संलग्न।

विगत वर्षों सुमित्रा दी ने भारत की लब्ध प्रतिष्ठ पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती तथा मराठी भाषाओं में बहुत सारे लेख वित्तीय, औद्योगिक एवं सामाजिक विषयों पर लिखे हैं। इनके अतिरिक्त दिवंगत एवं वर्तमान विशिष्ट व्यक्तियों पर इनके संस्मरण पत्र-पत्रिकाओं में आते रहे हैं।

शरीर, कला, साहित्य, इतिहास, भाषा तथा श्रेणी विहीन समाज के रूप में

भारत का सर्वांगीण विकास और नारियों का उत्थान सुमित्रा दी के विशेष प्रयोजनीय विषय हैं।

वह पूर्ण रूप से भारतीय नारी की प्रतीक हैं। वेषभूषा में, रहन-सहन में, स्वभाव-संस्कृति में, खान-पान में और विवेक-विचार में। इसीलिए वह एक संपूर्ण माँ हैं, संपूर्ण पत्नी हैं, परिपूर्ण बेटी हैं और संतुष्ट बहन हैं। पारिवारिक जीवन उनके लिए संतोषपूर्ण इकाई है और पति-भक्ति, कर्त्तव्य परायणता-मात्र नहीं बल्कि बौद्धिक सह-अस्तित्व भी। इसीलिए गजानन भाई यदि उन्हें दिन को रात या रात को दिन कह दें तब भी वह दी के लिए अमूर्त्त सच्चाई है, जहाँ बहस की कोई गुंजायश नहीं।

उसी प्रकार राज्य सभा के 'डिवेट' के बाद घर में आते ही 'किचेन' में घुस जाना दी के लिए आवश्यक धर्म न होकर भी अत्यावश्यक कर्म रहा। सहज रूप से कभी-कभी यह ग्रहण करना मुश्किल होता है कि झाड़ू लेकर स्वयं सफाई में संग्लन दी, पार्लियामेण्ट की इतनी सफल सदस्या कैसे हो गई। क्या यह दोनों वही हैं और कहीं भी एक-दूसरे का आवरण उन्हें विद्ध नहीं करता।

□ □ □

विगत छ: वर्षों का काल मेरे जीवन का स्वर्णिम अध्याय रहा है। इसलिए नहीं कि मैं संसद् सदस्य रहा या हिन्दी का एक लेखक रहा या महत्वपूर्ण पदों पर बैठा या देश-विदेश की सैर की—बल्कि इसलिए कि मुझे अकस्मात दी मिलीं, उसी भाँति जैसे किसी गोताखोर को समुद्र के अतल तल में मोती मिल जाये। और जैसा कि मैंने पहले ही लिखा है, धीरे-धीरे उनका मेरा साथ एक अक्षर 'दी' में सिमट आया।

एक साल का था उसी समय माँ मर गई थी और जब बड़ा हुआ तो पिता जी चल बसे। एक अपनी मिलीं भी तो उन्होंने पढ़ाने-लिखाने के बाद मुँह मोड़ लिया। और जीवन के ऐसे ही असहाय काल में मरुस्थल के किसी सोते के समान दी मुझे मिलीं और इन्हें पाकर मुझे ऐसा लगा मानों माँ-पिता और 'दीदी' एक साथ ं। इसीलिए प्रथम मुलाकातों में ही मैंने उनसे कहा—'हँस तो हर जगह क ऐसी भी तो जगह चाहिए, जहाँ बैठकर कभी रो सकूँ। हँसना रोना वास्तविकता। आदमी हँसता है औरों के सामने लेकिन रोता के सामने।'

न जाने कितने ही प्रसंग आये, जब हम दोनों एक-दूसरे की आँसुओं में स्वयं रो पड़े।

में मैंने देखा है। किसी के संकट को, दुख: को ओढ़ लेना है। मुझे वह बात कभी नहीं भूलती जब आपातकाल के दौरान के पीछे सरकार लग गई और उन्होंने उन्हें अपने घर में छुपा

पर रखा। मैंने कभी अपनी शंका दिखलाई तो बोली—शंकर, यही तो मेरी परीक्षा है।

दी किसी पर भी विश्वास कर सकती हैं—सहज रूप से, लेकिन अधिकतर विश्वासों से उन्हें आघात पहुंचा है, जिसकी सिसकारी बहुत बार मैंने सुनी है।

दरअसल वह राजनीतिक नहीं हैं, अतः किसी छल-प्रपंच और झूठ-फरेब में पड़ना इनके लिए संभव नहीं है और राजनीति में पटु व्यक्तियों के लिए यही आधार है। यही कारण है जो दी राजनीति में उतनी सफल नहीं हो पाईं। हर बार इनकी पारिवारिक ऊँचाई, संस्कार और नीति 'राज' से ऊँची ऊपर उठ जाती है और दी का अहम् कहीं भी झुकना तो दूर रहा, संधि करने के लिए भी तैयार नहीं होता है।

नतीजा साफ है—अप्रिय या खुलापन और बापू के जीवन का आदर्श एक ओर दी के लिए वरदान है, दूसरी ओर वर्तमान कुटिल और जटिल दुनिया के साये में अभिशाप, जो हर कदम पर रोड़ा बनकर खड़ा हो जाता है।

पता ही नहीं चलता है कि कांटों के बीच गुलाब है या गुलाब के बीच कांटे।

विगत छः वर्षों में बहुत बार मैंने दी को देखा है—फूट-फूटकर बिलखते और यह सब उन्हीं क्षणों में जब 'मूल्यों का' ह्रास हुआ 'नीतियों की' भ्रूण-हत्या हुई हैं। विशेष तौर से आपात्काल के दौरान दर्जनों बार उनकी मानसिकता ने उन्हें 'तिहाड़' के लिए तैयार किया, लेकिन हर बार मैं एक 'गतिरोध' के समान उनकी राह में आ गया।

मेरी डायरी के पन्ने भरे हैं उनके उद्वेगों से, जिनमें से केवल एक दिन मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूं—

दिल्ली, ३१ जनवरी, १९७६

'उनकी मन स्थितियाँ जानता हूं और इसीलिए कभी-कभी डर लगता है। पता नहीं वे क्या कर दें, पता नहीं वे कल कंट्रोल से बाहर हो जायें, पता नहीं उनको कब क्या हो जाये।

सोचता हूं—ऐसा क्यों होता है, तब कोई आश्चर्य नहीं होता। आखिर, उनके (श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी के) अन्दर जो खून है, उसमें वास है सच्चाई का, निष्ठा का, साहस का, धैर्य का और ऐसी ऊँचाई का, जिनकी तुलना हममें कोई भी और नहीं कर सकता।

एक-एक शब्द, एक-एक बात, एक-एक साँस—मैं देखता हूं, महसूस करता हूं और सिहर जाता हूं।

'मैं जानती हूं, मेरे लिए तिहाड़ में जगह है, बाहर कहीं नहीं।' और तब एक दिन मैंने उन्हें धीरे से कहा—'आप अकेली नहीं जायेंगी, जिस दिन यह नौबत

आई उस दिन मैं बाहर रह कर क्या करूँगा।'

'मैं १ जुलाई तक ही हूं। उसके बाद मैं 'रिजाइन' करके चली जाऊँगी। तुम देख लेना।'

—ऐसी परिस्थिति क्यों आयेगी। मैं जानता हूं इन्दिरा जी से आपका कोई विरोध नहीं है। फिर आपके मन में यदि कोई बात है तो क्यों नहीं उनसे बात करती हैं। और फिर उनसे निकट भी आपका कोई नहीं है।—मैं कहता हूं।

—'मैं अपने बच्चों को और उन्हें देश से बाहर भेज दूंगी और उसके बाद जो भी मेरे जी में आयेगा, मैं करूँगी। मेरे बच्चों को और उन्हें लोग बड़ी तकलीफ देंगे।—जब तक वह कहती हैं।

'शंकर, तुम नहीं सोचते, हम लोग कहाँ जा रहे हैं? क्या इसी के लिए हम जिन्दा हैं।'

'तुम तो बड़े स्वार्थी हो, तुम्हें क्या, तुम तो अपना सब कुछ ठीक रखते हो।'

'मुझे जिस दिन कुछ करना होगा, किसी से नहीं पूछूंगी। कर गुजरूँगी।'

'तुम नहीं समझ सकते कि मैं कितनी पीड़ा में हूं।'

ये कई तरह की बातें हैं। जो उनके मुंह से निकलती रहती हैं और मैं केवल सुनता ही नहीं हूं, गुनता भी हूं। उनका प्यार, उनका गुस्सा, उनकी पीड़ा, उनकी मनःस्थिति मैं नहीं समझूंगा तो कौन समझेगा। जीवन के सागर में मोती ढूंढने की ठेकेदारी मेरी नहीं है, लेकिन जो मोती मिला है—उसको सहेज न सकूं तो मुझसे बड़ा अनाड़ी और कौन होगा। उनकी घृणा और तिरस्कार सब समझता हूं मैं—लेकिन प्रकट करके भी सारी बातें प्रकट नहीं कर सकता।

कारण, मेरे लिए वे थाती के समान हैं—मृत्यु के समीप चलने वाली सांस - जिनमें जीवन के तत्व निहित होते हैं और मेरे लिए भी वे सांस के समान ही हैं।'

लेकिन संयोगवश वह अपने को रोक नहीं सकीं और पिछले लोकसभा चुनावों के पहले उन्होंने कांग्रेस से या इन्दिरा जी की अधिनायकवादी नीतियों से अपने को पृथक कर लिया तथा लोकनायक जयप्रकाश, बाबू जगजीवनराम, विजयालक्ष्मी पण्डित, हेमवतीनन्दन बहुगुणा के साथ उन्होंने भी देश में जो क्रान्ति हुई उसमें भरपूर योगदान दिया और चुनाव [illegible] दिया वह उनकी ईमानदार अनुभूतियों का जीवन्त [illegible] है।

र सर्वथा शक है कि सरकार की विजय हो। मैं २५ मार्च से विरोध पक्ष में
ने के इरादे से तुम्हारे पक्ष को छोड़कर आई हूं। और कोई अभिलाषा, मह-
कांक्षा या मनसूबों से नहीं। १९७८ अप्रैल में मेरा सत्र समाप्त होगा उस दिन
राज्य सभा की सीट किसी से भी नहीं मांगने वाली हूं। मेरे नये पक्ष में तुम्हारे
से ज्यादा दूध के धोये या देवी सत्ता है ऐसा समझ कर भी नहीं आई हूं। मात्र
ही थी वहां पर मैं दो साल से ऊपर से व्यथित-व्याकुल थी। पहली मार्च की
न पहली बार हल्के मन से प्रसन्नतापूर्वक मैं सो सकी। और दिल का बोझ दूर
गया। अब कम से कम मेरे विचार और आचरण में विरोधाभास होने की आव-
श्यकता नहीं है। तुम्हीं ने कहा है कि मैं रश्मि-चंदू की राजनीति भी नहीं समझती
सीलिए ऐसा किया है। कम से कम अब सोने के पिंजरे में बन्द गौरैया नहीं
। बाहर विशाल गगन में विचरण करने की अब स्वतन्त्रता है। मालूम है कि
बाज और चील जैसे विशालकाय पक्षी मेरे पर झपट्टा मारेंगे, समाप्त हो जाऊंगी।
गर मृत्यु के पूर्व, अस्त होने के पूर्व, यह मुक्त गगन की प्रसन्नता मुझ पर रहेगी।
कम से कम सतत कोई मेरा गला घोटेगा नहीं और मेरे प्राणों को दबोचेगा नहीं।
मुझे किसी से भी जीवन आनन्द की भिक्षा मांगनी नहीं पड़ेगी। प्रतिदिन के पल-
पल के प्रत्याघात से जो विदारित रही उसके बदले एक झटके से समाप्त होना
कम दुखद होगा। कम से कम मेरे स्वाभिमान का हनन नहीं होगा और करने की
चेष्टा करेंगे तो उन व्याघ्रों के तीखे पंजों से दूर होने में इतनी देर नहीं
लगाऊंगी।

सरकार की समस्त शक्ति के सामने हमारी पूर्ण जीत असम्भव-सी है और
जीतने पर भी मैं उस परिधि में न हूं, न होने वाली हूं जहां तुम्हारे शब्दों में सौदे-
बाजी काम आयेगी और मुझे यश कीर्ति मिलेगी। मेरा व्यक्तित्व कितना 'प्रस्फु-
टित' होगा यह तो नहीं जानती, मगर जो थोड़े-बहुत भग्नावशेष बाकी हैं, वह
सम्मान के साथ बच जायें इसी एक मात्र इच्छा से छटपटाहट के साथ अलग
हुई हूं।

तुम्हारा राजनैतिक अस्तित्व सर्वथा मुझसे अछूता था। इसलिए मैं कहीं
रहूं, क्या सोचूं, उसकी छाया तुम्हारे यश पर नहीं पड़ेगी, इसका मुझे पूर्ण
विश्वास है।

२२ मार्च के पश्चात् मैं प्रतिदिन 'तिहाड़वासी' बनने की तैयारी में हूं।
वास्तव में 'राजे' भी इसके लिए तैयार है। इसीलिए १८ की रात या १९ की सुबह
दिल्ली पहुंचना चाहती हूं। उस मकान की व्यवस्था के लिए चार दिन ज्यादा
नहीं हैं। आशा है, जो स्त्री जेल जाने और विरोध पक्ष में बैठकर राज्य सभा के
माननीय सदस्यों के विषावत बाणों को झेलने के लिए मैका छोड़कर निकली है,
वह सुख, सत्ता या ऐश्वर्य की लालसा में नहीं मगर अपने प्रति कम से कम सनिष्ठ

रहे, उसके लिए निकली है, ऐसा तुम समझ पाओगे।

अब इसे समाप्त करूँ। काफी काम बाकी है। बच्चों और 'राजे' को भी पत्र लिखने का समय-शक्ति का अभाव है। मगर तुम्हें लिख दिया अन्यथा तुम और अन्य सभी मेरी प्रमाणिकता पर भरोसा नहीं करोगे।

तुम्हारी—'दी'

□ □ □

इस बार अप्रैल में दी का राज्य सभा का छः वर्ष पूरा हुआ और उन्हें दुबारा मौका नहीं मिला। हम सबों को जहाँ इस बात की चिन्ता सता रही थी, वहीं वह प्रसन्नचित्त अपने सामानों की पैकिंग करने में लगी थीं और मेरे उदास मुखड़े को देखकर उनका वाक्य था—'चलो यह तो मेरे लिए बहुत अच्छा रहा कि अब राजे (प्रो० जी०आर० कुलकर्णी) और बच्चों को भरपूर समय दे सकूंगी।'

निर्विकार-सा वाक्य। बिल्कुल सही मानी में वह निर्विकार ही रहीं, कहीं उनके अन्दर कुछ छू नहीं गया—न मोह, न मद, न लालसा, न अहंकार। उन्होंने अपने जीवन को इसी प्रकार ढाला—पुरइन के पत्तों के समान, कीचड़ में भी रह कर कमल के समान सदा जल के ऊपर।

२७ मार्च, १९७७ को उन्होंने एक पत्र में मुझे लिखा था—"मैंने सदैव यही माना कि जिस दिन गजानन से विवाह किया उस दिन से मैं साक्षात् लक्ष्मी स्वरूपा परम प्रकृति का सौन्दर्य प्रतीक हूं। मेरे अन्दर-बाहर का सौन्दर्य और उन्माद न कभी टूट सकता है न स्खलित हो सकता है……शुभ-अशुभ यह सब मेरे मानस की प्रक्रिया है, उसका नियन्त्रण मेरी अपनी इकाई निश्चित करती है। आज तक उस पर ब्रह्माण्ड की अदृश्य शक्ति का भी छाया [illegible] न लगा और [illegible] [illegible], भगवान [illegible] [illegible] और प्रसन्न [illegible] [illegible] रही।"